
ध्यान वाहिनी

ध्यान वाहिनी

"भगवान श्री सत्य साई बाबा की मूल
तेलुगू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद"



प्राप्ति स्थान :—
भगवान श्री सत्य साई सेवा समिति,
गुलाब भवन,
६ बहादुरशाह जफर मार्ग,
नई दिल्ली-१

भूमिका

भगवान श्री सत्य साई का समकालीन होना ही एक सौभाग्य की बात है क्योंकि वे स्वयं परमात्मा हैं। उन तक हमारी पहुंच सरलता से हो सकती है। धार्मिक व्यक्ति, हीनाङ्ग व अपङ्ग और आध्यात्मिक क्षेत्र में भटकते हुए व्यक्तियों से मिलने के लिये वे उत्सुक रहते हैं। साधुओं में पवित्रता, साधकों में साहस और जनता के व्यवहार में धर्म स्थापना के लिये ही उनका आगमन हुआ है। १४ वर्ष की किशोरावस्था में ही उन्होंने घोषित कर दिया था कि वे शिरडी के सन्त साई बाबा हैं और अपने कार्य को पूर्ण करने के लिये पुनः शरीर धारण किया है क्योंकि उन्होंने पूर्व ही कह दिया था कि "महा समाधि के आठ वर्ष पश्चात् मैं पुनः शरीर धारण करूँगा" और तभी से उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। भगवान श्री सत्य साई बाबा निर्विराम अलौकिक घटनाओं के माध्यम से अपने ईश्वरत्व की घोषणा शान्ति पूर्वक करते रहते हैं। विज्ञान की उन तक पहुंच भी नहीं है। वे सलाह देते हैं, सन्तोष देते हैं, वरदान देते हैं और सबसे अधिक तो वे संशयशील साधकों को अपने पास आने के लिये उत्साहित करते हैं क्योंकि वे स्वयं भगवान हैं, सबके परम साध्य हैं। उनका प्रत्येक वाक्य लिखित या मौखिक, महावाक्य है क्योंकि उनको समस्त अधिकार हैं। बाबा ने इस पुस्तक को तेलुगू भाषा में सनातन सारथी में धारावाहिक रूप से लिखा था और उसका यह अंग्रेजी अनुवाद है। इसका यह तृतीय संस्करण है। बाबा

की तेलुगू इतनी सरल, सुन्दर और मधुर होती है कि उसका प्रभाव हृदय पर सीधा होता है। उसका अंग्रेजी अनुवाद करने में उसकी मधुरता निचुड़ गई है। किन्तु जो लोग तेलुगू नहीं जानते उनके लिए बाबा के उपदेशों का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये यही सर्वोत्तम साधन है।

भगवान से यही प्रार्थना है कि जो लोग इसको पढ़ें, और उनके उपदेशों को क्रियान्वित करें, उन्हें अपनी साधना में सफलता मिले और वे भगवान के समक्ष उपस्थित हो सकें।

एन. कस्तूरी

सम्पादक, सनातन–सारथी (अंग्रेजी)

प्रबोध–१

ध्यान का प्रभाव और उसका स्थान :—

मानव को जागने से सोने तक अर्थात् जन्म से मृत्यु पर्यन्त कुछ न कुछ कर्म करते ही रहना पड़ता है। बिना कर्म किये अर्थात् कर्म रहित या निश्चेष्ट वह रह ही नहीं सकता है। कितना ही बड़ा या शक्तिशाली व्यक्ति क्यों न हो उसको इस कर्म बन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता। अत: मानव को यह जानना चाहिये कि वह किस प्रकार के कर्म कर रहा है और इनमें से कौन कौन से कर्म उसे करने चाहियें। कर्म केवल दो प्रकार के हैं :—

१. विषयकर्म—इन्द्रियानुभूत कर्म, जिनसे संसार का बन्धन जकड़ता है।

२. श्रेयोकर्म—वह कर्म जिनसे मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु इस संसार में विषय कर्मों की संख्या अपार वृद्धि पर है और ये विषय परिस्थिति की ओर ले जा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप शोक व मानसिक विप्लव (हलचल) की वृद्धि है। इन कर्मों के द्वारा सुख एवं शान्ति अत्यन्य अल्प मात्रा में ही प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत श्रेयोकर्म उत्तरोत्तर आनन्द एवं मंगलदायक हैं यही केवल आत्मानन्द मार्ग में

प्रस्थान कराता है और विषय सुख या वाह्यानन्द से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। आचरण वाह्य हो सकता है किन्तु प्रवृति अन्तर्मुखी ही होती है। यही सच्चा मार्ग है यही उचित मार्ग है।

वाह्य विषयों से सम्बन्धित समस्त कर्म विषयकर्म की श्रेणो में आते हैं। परिणाम पर दृष्टि रख कर ही ये समस्त कर्म किये जाते हैं। इस प्रकार के जब कर्म किये जाते हैं तो उनका फल भी अवश्य ही भुगतना पड़ता है, इसी लिये मामकार, अहंकार, वासना, लोभ व कामिनी, कांचन पिशाच के चंगुल में पड़ जाते हैं। मानव जब इस पथ पर अग्रसर होता है तो वासना भी अधिकाधिक प्रज्वलित होती है। जैसे यज्ञ कुण्ड में घृत डालने से अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित होती है। इन विषयों को प्राथमिकता देना विष को प्राथमिकता देना है। अतः जो मानव इन कर्मों में रत रहते हुये भी इनके परिणामों या फलों में अनासक्त रहता है उनके फलों की इच्छा नहीं करता वह मामकार, अहङ्कार, वासना, लोभ, कांचन व कामिनी पिशाचों पर विजय प्राप्त करता है और इन दुर्गुणों से वह दूर हट जाता है और इनके परिणामस्वरूप जो कष्ट प्राप्त होते हैं उनसे छुटकारा पा जाता है। इस लिये श्रेयोकर्म पवित्र, निर्मल, निःस्वार्थ और निश्चित (स्थिर) कर्म हैं। गीता में इसी निष्काम कर्म फलासक्तिहीन कर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसके साधन से सत्य, धर्म, शान्ति और प्रेम की वृद्धि होती है। यदि इस साधन के साथ साथ भगवन्नाम का स्मरण, मनन व चिन्तन भी प्रारम्भ कर दिया जाता है तो सोने में सुगन्ध हो जाता है। इस पथ के अतिरिक्त मानव को शान्ति व आनन्द और कहाँ प्राप्त हो

सकता है ? इससे पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है।

यदि प्रत्येक मानव इस पथ का अवलम्बन करता है तो परमात्मा स्वयं ही प्रत्येक साधक को, जो आवश्यक है, जो पाने के योग्य है वह तथा जो शान्तिप्रद है ऐसा प्रसाद अनुग्रह के रूप में देता है। सर्व-कर्म-फल को सर्वेश्वर को अर्पण कर देना अत्यन्त सुलभ पथ है, अमित सुख दायक है। असत्य भाषण व अधर्म मार्ग गामी होना अत्यन्त दुष्कर है किन्तु सत्य भाषण करना व धर्म मार्ग में चलना सुलभ है। जो तत्व जैसा है, जो वस्तु जैसी है उसको उसी प्रकार बतला देना बहुत ही सुखप्रद है उसमें सोचने-विचारने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो असत्य है, जो तथ्य के विपरीत है उसको बतलाने के लिये मानव को योजना बनानी होती है। उसे सोचना विचारना पड़ता है; उसे संकोच होता है। यह सब मिलकर मानव को भय, भ्रान्तिपूर्ण व अशान्त वातावरण में खड़ा कर देते हैं और उसको अनेक प्रकार की दुःस्थितियों को भोगना पड़ता है। इसलिए अशान्तिदायक कष्टप्रद विषय कर्मों के आचरण करने की अपेक्षा नित्य सत्य व परम पवित्र श्रेयी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए जो आत्मानंद प्रदायक है।

इसके लिये सबसे सुलभ व उत्तम मार्ग ध्यान है। आज कल के नये फैशन के लोग तर्क करते हैं कि यह ध्यान क्यों किया जाये और किस प्रकार किया जाये ? मगर इन व्यक्तियों को न उसकी पवित्रता का ज्ञान है और न उसमें उनकी रुचि है। तर्क एवं उपहास करना उनका स्वभाव है; इसी लिए इस प्रकार के व्यक्तियों को उचित प्रकार से शिक्षा देने

का मेरा संकल्प है और मैं बता रहा हूँ।

देखो ! इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति वाह्य में एक प्रकार का आचरण करता है, व्यवहार करता है और अन्तरङ्ग में दूसरे प्रकार से। इस दुर्बलता का ज्ञान सब को है लेकिन साधारणत: लोग इसको व्यक्त नहीं करते और न इसे पाप के रूप में, अधर्म के रूप में देखते ही हैं। यदि किसी के परिवार में पार्टी बन्दी हो जाती है तो जो थोड़ा सा सुख शांति उसे प्राप्त था उसका भी नाश हो जाता है। उसी प्रकार देह सम्बन्धी कठिनाइयों व दु:खों के आने से उसकी आन्तरिक शान्ति व आनन्द का नाश हो जाता है।

मैं यहां इसको एक उदाहरण देकर समझाता हूं। मान लो एक बैलगाड़ी है। क्या यह अपने आप चल सकती है? नहीं। यह तभी चल सकती है जब इसमें दो बैल जोत दिये जाएँ। ये बैल तभी गाड़ी ठीक तरह से खींच सकते हैं जब गाड़ी खींचने में निकाले गये हों। गाड़ी खींचने का अभ्यास कराया गया हो, तभी वह गाड़ी सुरक्षित रूप से अपने गन्तव्य स्थान को पहुंच सकती हैं। यदि ऐसा नहीं किया गया है और बैलों को गाड़ी खींचने के लिये निकाला नहीं गया है या गन्तव्य पथ पर कभी यात्रा नहीं की है या गौशाला से कभी उनको बाहर नहीं निकाला गया है और वे सदैव अपने खूंटे पर ही बन्धे रहे हैं तथा उसी के चारों ओर चक्कर काटते रहे हैं तो गाड़ी को खतरा हो सकता है। और वह अपने गन्तव्य स्थान को भी नहीं पहुंच सकती है।

इसी प्रकार अन्त:करण भी अपने आप पथ पर अग्रसर

नहीं हो सकता। इस गाड़ी को भी मानस (मन) व बुद्धि रूपी दो बैलों की आवश्यकता होती है। अन्तःकरण रूपी गाड़ी में जब बुद्धि एवं मन रूपी बैलों को जोत देते हैं तभी यह गाड़ी चल सकती है। इसके पहले बुद्धि एवं मन रूपी बैलों को उस रास्ते का भी ज्ञान होना चाहिए जिस पर चल कर अन्तःकरण अपने लक्ष्य स्थान निश्चित ग्राम को पहुंचना चाहता है। इस रास्ते का अभ्यास भी उनको कराना चाहिए, तभी यह गाड़ी अपने गन्तव्य स्थान पर निश्चित एवं सुरक्षित रूप से पहुँच सकती है। यदि ऐसा नहीं है यानी बुद्धि और मन रूपी बैलों को सत्य, धर्म, शान्ति और प्रेम रूपी पंथों का जब ज्ञान ही नहीं है और इन पथों पर कभी चलने का अभ्यास भी नहीं कराया गया है तो अन्तःकरण रूपी गाड़ी को क्षति पहुँच सकती है। यदि बरबस इस रास्ते पर चलाया भी जावे तो वे पथभ्रष्ट हो, अशान्ति, अन्याय, क्रूरता, अनाचार व असत्य रूपी भयावह रास्तों से चलने लगेंगे क्योंकि इन्हीं रास्तों से चलने का अभ्यास है। ऐसी अवस्था में गन्तव्य स्थान पर गाड़ी कैसे पहुंच सकती है? कब पहुँच सकती है?

इसलिए पहले बुद्धि व मन रूपी बैलों को इस गाड़ी के खींचने का तथा इस पथ पर चलने का अभ्यास कराना ही होगा। इसी अभ्यास का नाम जप व ध्यान है। जब जप व ध्यान की शिक्षा नहीं दी जाती है तो अन्तःकरण को मन एवं बुद्धि को नियन्त्रण में रखना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। और वह स्वयं पथभ्रष्ट होकर भागना प्रारम्भ कर देता है। तब मानव निराशा एवं भ्रान्ति के चक्कर में पड़ जाता है। उस समय मानव के मन में जो परस्पर विरोधी अनेक काम-

नायें उठती हैं उनको शान्त करना चाहिए, उन पर विजय पाना चाहिए। मन को एकाग्रता का अभ्यास कराना चाहिए। मानव जिस पथ पर चलना चाहता है, जिस लक्ष्य की पूर्ति चाहता है. जिसके लिये उसने योजना बनाई है, उस पथ की ओर, उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए, उस निर्धारित योजना की सफलता के लिये उसे अपनी समस्त शक्ति एकाग्र करके प्रयास करना चाहिए। मानव जब ऐसा करता है तो कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे पीछे धकेल सके और वह अपने गन्तव्य स्थान पर निश्चित रूप से पहुंचता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

अनेक प्रकार के मार्गों में भागने वाले चंचल मन को ईश्वर–नाम–स्मरण में जब लगाया जाता है तो अत्यन्त विलक्षण परिणाम दृष्टिगोचर होता है। ताल (Lens) जब सूर्य की किरणों को एकत्रित कर देता है तो उसमें जलाने की शक्ति तुरन्त आ जाती हे। इसी प्रकार जब मन व बुद्धि और उनके अनेक प्रकार के विकृत रूप आत्मारूपी ताल (Lens) द्वारा एकत्रित कर दिये जाते हैं तब उसे आत्म-शक्ति प्राप्त हो जाती है और वह समस्त दुर्गुणों को ध्वस्त कर देता है। और सर्व सन्तोष-निलयरूपी सर्वेश्वर ज्योति को दिखा देता है।

इस संसार में चाहे कोई भी धन्धा क्यों न हो, कोई भी व्यापार क्यों न हो, मानव अपनी एकाग्रता के द्वारा ही सफलता प्राप्त करता है। जब छोटे छोटे कार्यों की सफलता भी एकाग्रता पर निर्भर है तो बड़े बड़े कार्यों में कितनी अधिक एकाग्रता की आवश्यकता होनी चाहिए। कितनी भी

कठिन और दुरुह समस्या क्यों न हो निश्चल एवं निर्विराम प्रयत्न करने से अवश्य ही सुलझ जाती है। मानव के अन्दर अनन्त शक्ति छिपी हुई है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जिसके अन्दर यह शक्ति नहीं है। मगर दुर्भाग्यवश उससे अनभिज्ञ होने के कारण मानव गलत रास्ते पर जा रहा है। इसको जानने के लिये सत्पुरुषों का सत्संग, यत्नपूर्वक साधना तथा जप व ध्यान का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। घर में सब सामान वर्तमान है लेकिन यदि भोजन बनाने की विधि अज्ञात है तो सब सामान व्यर्थ है। इसी प्रकार मानव के अन्दर समस्त शक्तियां, उन्नति करने व जीवन-यापन करने की छिपी हैं लेकिन उनके प्रयोग से अनभिज्ञ होने के कारण, अपनी अविद्या के कारण, मानव उपयोग नहीं करता, और उनको व्यर्थ ही जाने देता है। मानव को स्थूल दृष्टि से नाना प्रकार के रूप व शक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं इन सबका मूलाधार तो अद्वितीय शक्ति है मानव को उसे खोजना ही चाहिए, पहचानना ही चाहिए। मन अति चंचल है अनेक प्रकार से अनेक पथों पर भागता है उसको एकाग्र करना ही ध्यान है

पवित्र परमात्मा के ध्यान से ही मन अपनी इन्द्रिय-विषय वासनाओं से मुक्ति पाता है। उस समय में बुद्धि मानस की जगह को अधिकृत कर लेती है और मन को आदेश देती है कि तुम सत्ताधारी परमेश्वर के ध्यान के सिवा और किसी का ध्यान या चिन्तन मत करो। अपना निजस्वरूप जब ज्ञात हो जाता है तब मानस क्षण-भंगुर असत्य एवं दुख के जाल में नहीं फँसता है और तभी क्षेम, सन्तोष, आनन्द एवं सत्य मार्ग की ओर बढ़ता है, अग्रसर

होता है, कष्ट एवं दुखों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि प्रकृति और प्राण नाश रहित हैं। हैं न? और इन दोनों के सम्मलित स्वरूप से प्रत्येक विषय वस्तु का एक नया मूल्यांकन हो जाता है। इसी प्रकार ध्यान की सहायता से मन एवं बुद्धि रूपी सामग्री से सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार पाने से, मानव जीवन तेजोमय हो जाता है। फल को पूर्णरूप से खा लेने पर ही उसके स्वाद एवं गुण का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए प्रत्येक मानव को आज से ही इसी क्षण से ही ध्यान करना चाहिए। जब फल का आंशिक रूप से भी, रसास्वादन हो जाता है तब तर्क और सन्देह की भावना अपने आप ही दूर हो जाती है और सन्तोष की प्राप्ति होती है।

सक्रिय रूप से, सम्पूर्ण श्रद्धा से तथा सम्पूर्ण विश्वास के साथ महान उत्साह से, विधि पूर्वक ध्यान करना चाहिये। इस विधि से जब हम ध्यान करते है तब उसके द्वारा सर्व सुख और सब प्रकार की विजय तो प्राप्त होती ही है अपितु परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार भी प्राप्त हो जाता है यह केवल वेदान्त शास्त्र से ही नहीं बल्कि प्रकृति शास्त्र से भी सन्निहित रूप से सम्बद्ध है। किन्तु इन दोनों के बीच में थोड़ी सी भिन्नता है। प्रकृति शास्त्र-वेत्ता केवल भौतिक जीवन के विषयों में ही निमग्न रहते हैं और वेदान्त शास्त्री जीव के सहज रूप में। मानव इन दोनों से ही सन्निहित सम्बन्ध रखने वाला है। है न? मानव यदि अपना अभ्यान्तर एवं वाह्य दोनों जीवन तेजस्वी बनाना चाहता है तो उसे ध्यान की साधना करनी चाहिए। यही सर्वश्रेष्ठ साधना है जो वह कर सकता है।

ध्यान और उसका विधान :—

आसन पृथ्वी से कुछ ऊँचा होना चाहिए । एक या दो इन्च ऊँचा होना पर्याप्त है । उस पर कुशासन फिर मृगचर्म और फिर उस पर पतला सा एक सफेद वस्त्र बिछाना चाहिए । ध्यान करने के लिये इस आसन पर पद्मासन लगा कर बैठना चाहिए । दाहिना पैर बायीं जांघ पर और बायां पैर दाहिनी जांघ पर रखना चाहिए किन्तु आसन से सम्पर्क नहीं छूटना चाहिए । दोनों हाथ की उँगलियाँ एक दूसरे में फसा कर हाथ लम्बा करके सामने पृथ्वी पर रखना चाहिए । आँख या तो आधी खुली हो या सम्पूर्ण रूप से बन्द होनी चाहिए । इसके बाद शरीर के प्रत्येक भाग की मानसिक मालिश करनी चाहिए । गर्दन, भुजा, छाती, पेट, उँगलियाँ, पीठ, जांघ (नीचे का भाग भी) पाद, स्नायु (Muscles) सब की मानसिक मालिश करके उनका शिथिलीकरण करना चाहिए (Relaxation) इसके पश्चात अपने इष्ट देवता का नाम ओंकार के साथ जपना चाहिए और इष्ट देवता के स्वरूप का ओंकार के साथ ध्यान करना चाहिए । ऐसा करते समय मन में किसी भी प्रकार की भावना, कोप, ताप, दु:ख, चिन्ता, घृणा इत्यादि ध्यान में नहीं आनी चाहिए यदि इस प्रकार के विकार ध्यान में आते हैं तो ध्यान को उत्साह दिलाने वाली भावनाओं का स्मरण करना चाहिए । यह प्रारम्भ में बड़ा कष्टप्रद प्रतीत होता है। इस प्रकार के ध्यान के लिए सूर्योदय से पूर्व प्रात:काल का शान्त समय तीन बजे से पाँच बजे तक का होता है। प्रातः चार बजे उठकर शांत वातावरण में इस साधना के करने का सर्वोत्तम समय है । प्रथम निद्रा को वश में करना चाहिए । अति निद्रा

अच्छी नहीं है। इसको वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। नियमानुसार चलने के लिए जिससे निर्धारित समय का अतिक्रमण न हो चार बजे के लिए अलार्म लगा देना चाहिए। अगर फिर भी उठना कठिन प्रतीत हो और निद्रा आ रही हो तो शीतल जल से स्नान कर लेना चाहिए। शीतल जल से स्नान करना आवश्यक नहीं है। यदि निद्रा अधिक आ रही हो तभी शीतल जल से स्नान कर सकते हैं।

इस प्रकार से ध्यान मार्ग में अभ्यास करने से अतिशीघ्र ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है।

●

प्रबोध-२

त्रिगुणों का ध्यान और उसका फल :—

इस संसार में साधक लोग साधारणतया जप व ध्यान करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि जप व ध्यान का उद्देश्य क्या है ? इस बात के स्पष्ट न होने से लोग जप व ध्यान सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए करते हैं। सांसारिक सफलता हेतु जप व ध्यान करने का अर्थ है विषय वासना की दृष्टि से करना। मगर यह भारी भूल है। जप व ध्यान भगवान के प्रति एकाग्रचित्त रखने के निमित्त ही करना चाहिये, विषय व वासना को त्याग करके आत्मा का अक्षय आनन्द प्राप्त करने के लिये ही करना चाहिये। मन को चंचल हो कर इधर उधर मक्खी की तरह नहीं भागने देना चाहिये। मक्खी मिठाई की दुकान में भी तथा मल मूत्र पड़े स्थान में भी जाती रहती है। अतः मन रूपी मक्खी को मिठाई की मधुरता बतलानी चाहिए और मल मूत्र के स्थानों की अपवित्रता भी बतलानी चाहिए और उसको विवश करना चाहिए कि सदैव मिठाई की दुकान में ही रहे और विषय वासनाओं में न फंसे। इसे ही ध्यान कहते हैं।

दूसरा उदाहरण शहद की मक्खी का है। यह सदैव उसी पुष्प के पास जाती है जिसमें मधुर शहद (मकरन्द) होता है। और बाकी बेकार जगहों में नहीं भटकती फिरती। इसी प्रकार इस संसारिक विषय वासनाओं को भी क्षण भंगुर एवं असत्य समझकर इसके प्रति आसक्ति नहीं करनी चाहिए। सर्वेश्वर के ध्यान में जो मधुर आनन्द प्राप्त होता है उसी ओर सदैव ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान का अभ्यास करने में अवश्य ही कुछ समय लगेगा। इसकी अवधि साधक की भावनाओं, मन, वाक् और कर्म पर निर्भर करती है।

भगवत ध्यान के सम्बन्ध में यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि मैं कितना व्यय करके प्रभु की प्रार्थना कर रहा हूं, कितने वर्षों से प्रार्थना कर रहा हूँ, कितने ग्रन्थों का मैंने अध्ययन किया है। इसके विपरीत यह सोचना चाहिये कि क्या मेरे मानस में पवित्रता है ? क्या मैं शान्ति एवं प्रशांति के साथ ध्यान कर रहा हूँ ? क्या मैं भौतिक सुखों की लालसा का परित्याग करके ईश्वर का ध्यान कर रहा हूं ? क्या मैं भगवत सम्बन्धी सुख की लालसा से ही ध्यान कर रहा हूँ ? क्या मैं अपना सम्पूर्ण स्वार्थ त्याग करके ध्यान कर रहा हूँ ? अगर हम इस प्रकार से सोचने लगते हैं तो हमें ज्ञात हो जाता है कि ध्यान का फल जो हमें प्राप्त होता है वह न्यायसंगत है या नहीं ? यदि हम ऐसा न करके प्रभु के ध्यान में कितना समय व्यतीत किया है, किस निष्ठा के साथ ध्यान किया है और प्रभु की उपासना में कितना व्यय किया है, इसी लेखा जोखा में लगे रहते हैं तो यह सब प्रकृति सम्बन्धी ही होते हैं। और इस प्रकार का हमारा ध्यान कभी

भी आत्म सम्बन्धी ध्यान नहीं हो सकता।

जप व ध्यान केवल बाह्य विषयों की साकारता के निमित्त नहीं होना चाहिए, अन्तर्मुखी तत्वों के बारे में और अन्तर्मुखत्व की साकारता के निमित्त ही होना चाहिए। आत्म सम्बन्धी विषयों की जानकारी ही जप व ध्यान का सही अर्थ है। अमृत रूपी आत्मा की अनुभूतियों को क्षुद्र लौकिक प्रवृत्तियों से कभी नहीं तौलना चाहिये। क्षुद्र एवं तुच्छ विषय वासनाओं का कभी ध्यान व चिंतन नहीं करना चाहिए। क्षुद्र फलाकांक्षा से ही जप व ध्यान करते हुए जब बीच में थकावट आ जाती है तब मुझे फलानुभूति क्यों नहीं हो रही है ऐसा विचारने के अर्थ हैं कि फल प्राप्ति हेतु ही जप व ध्यान है।

जप व ध्यान का केवल एक ही फल है–वहिर्मुखत्व से अन्तर्मुखत्व को ओर रास्ता बदलना। अन्तर्मुखी होने के लिये आत्मा के आनन्द स्वरूप को पहचानने के लिये, ऐसे दिव्य फल प्राप्ति के लिए कितना ही समय क्यों न लग जावे, कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े सदैव दृढ़ मन के साथ गन्तव्य स्थान की ओर चलना चाहिए। भगवान की कृपा के लिए तरसते रहना चाहिए। इसी को ध्यान तप कहते हैं। इस पवित्र दीक्षा को कभी नहीं बदलना ही तपस्या कहलाता है।

ऐसे ध्यान मार्ग से गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए मानव तीन प्रकार के मार्गों का अवलम्बन करता है–सात्विक मार्ग, राजसिक मार्ग सथा तामसिक मार्ग।

प्रथम—सात्विक मार्ग :-

इस मार्ग का साधक साधना करना अपने जीवन का कर्त्तव्य समझता है। कितनी भी मुसीबतें क्यों न आवें, कितने ही प्रकार के कष्ट क्यों न उठाने पड़ें, उन्हें शांति के साथ सहन करके 'यह सब मिथ्या है' इस प्रकार के दृढ़ निश्चय के साथ सर्वकाल तथा सर्वावस्था में सब की भलाई करते हुए, सर्वजन समान श्रेणी होते हुए सर्वेश्वर के नाम स्मरण, जप, ध्यान व चिंतन में ही अपना समस्त समय व्यतीत करता है और उसे जो फल प्राप्त होता है उसकी भी कभी आशा नहीं करता है। वह सब सर्वेश्वर की दया पर छोड़ देता है।

द्वितीय—राजसिक मार्ग :-

इस मार्ग का साधक प्रत्येक पग पर साधना का फल प्राप्त करने की आशा रखता है। यदि फल प्राप्त नहीं होता है तो वह निराश और विरक्त हो जाता है और अपनी आराधना, जप व ध्यान धीरे-धीरे कम करते हुए साधना मार्ग से गिर जाता है।

तीसरा—तामसिक मार्ग :—

यह सबसे निकृष्ट है। जब कठिनाइयां घेर लेती हैं, दुख और कष्ट के बादल घिर आते हैं तभी परमात्मा याद आता है तब वह मनौती मनाता है कि हे प्रभु! तुम्हारी अमुक प्रकार से पूजा करूंगा, तुम्हें इतना भोग चढ़ाउंगा, तुम्हारा इतना बड़ा मन्दिर निर्माण कराउंगा, आदि ऐसी

ही प्रार्थनाओं द्वारा ईश्वर की प्राथंना करता है। ऐसे लोग जितना भोग उन्होंने चढ़ाया है, जितने बार नमस्कार व प्रणाम किया है, जितनी बार मन्दिर की परिक्रमायें की हैं, सबका हिसाब लगाते हुए उसी के अनुसार फल प्राप्ति की आशा करते हैं। इस भाव से प्रभावित साधक के जप व ध्यान से उसकी बुद्धि और मन कदापि निर्मल नहीं हो सकते।

इस संसार के अधिकांश व्यक्ति ध्यान व जप के लिये राजसिक व तामसिक मार्गों का ही अवलम्बन करते हैं। ध्यान व जप का अर्थ मन व बुद्धि को निर्मल करना है। ऐसी निर्मलता प्राप्ति के लिये प्रथम मार्ग सात्विक ध्यान ही सर्वोत्तम है। मन और बुद्धि जब निर्मल हो जाते हैं तब उसकी आत्मा ज्ञान रूपी तेज से प्रकाशमय हो जाती है। जिसके अन्दर यह पहचान या ज्ञान परिपूर्ण रूप से विद्यमान है उसी को कहते हैं ऋषी।

'ब्रह्मविद् ब्रह्म वहि भवति'–जो आत्मा को पहचानता है वह आत्मा हो जाता है। आत्मा अर्थात् जीव के वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही जीवन का लक्ष्य है, जीवन का गन्तव्य स्थान है। तभी जीव का जन्म सार्थक होता है।

वास्तव में मानव को मनोभावनायें स्थूल शरीर की मुद्रा द्वारा ही प्रकट होती हैं। स्थूल शरीर की मुद्रायें मनोभावनाओं को भी अपने वश में रखने में समर्थ हैं। ऐसा अनुभव है कि शारीरिक मुद्रायें और मनो-भावनाओं में घनिष्ट सम्बन्ध है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा।

कमर कसकर बांध कर, बाहें समेट कर, मुट्ठी बांध कर व्यक्ति अपने प्रम या भक्ति को प्रकट नहीं कर सकता है, घुटने टेक कर अध खुली आँखों से ऊपर देखते हुए और हाथ सिर के ऊपर ले जा कर हाथ जोड़ कर कोई अपनी क्रूरता, घृणा व क्रोध प्रकट नहीं कर सकता है। है न? इसीलिए ऋषिगण साधकों को उपासना, जप व ध्यान के लिये विशिष्ट आसन विस्तृत रूप से बताते थे। प्रार्थना जप व ध्यान के लिये उसके अनुरूप आसन का अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये उन लोगों ने यह भी खोज की थी इस विधि से मन की चंचलता समाप्त की जा सकती है। जब साधक बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच जाता है तो वह किसी भी अवस्था में, किसी भी मुद्रा में ध्यान कर सकता है। किन्तु साधना प्रारम्भ करने वाले के लिए उचित आसन का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार के शारीरिक व मानसिक प्रशिक्षण के द्वारा ही मानव उस स्तर पर पहुंच जाता है जहां यह दुख व कष्ट केवल मिथ्या मात्र प्रतीत होता है इसी प्रकार विचार कर सत्य एवं नित्य आत्मा के साथ एकाकार हो जाने के लिये साधना और ध्यान अथक परिश्रम के साथ करना चाहिए।

जब तक ध्यान सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती तब तक निर्दिष्ट आसन आदि के सिद्धान्त अक्षरशः पालन करने चाहियें; तब तक अनुशासनबद्धता पूर्ण रूप से निभानी चाहिये। जब ध्यान सिद्धि प्राप्त हो गई है अर्थात् मन और बुद्धि अपने वश में हो गये हैं तो उस अवस्था में वह चाहे शैया पर लेटा हो या बैठा हो, चाहे कुर्सी पर बंठा हो या किसी चट्टान पर, चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न हो वह

समुचित रूप से ध्यान कर सकता है।

एक बार जब मोटर साइकिल चलाना किसी ने सीख लिया तो मार्ग कितना टेढ़ा मेढ़ा या संकटपूर्ण क्यों न हो उस व्यक्ति के लिये मोटर साइकिल सुगमता से चलाना सम्भव हो जाता है; किन्तु प्रारम्भ में जब वह मोटर साइकिल चलाने का अभ्यास करता है तो उस समय सीखने वाले की और समीपवर्तियों की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि सीखने के लिये मैदान हो और मोटर साइकिल पर बैठने व चलाने के जो नितान्त आवश्यक सिद्धान्त व नियम हैं उनका उचित रूप से पालन किया जावे इसी प्रकार ध्यान व साधना प्रारम्भ करने वालों के लिये भी नितान्त आवश्यक नियमों एवं सिद्धान्तों का पूर्णतः पालन करना आवश्यक है। उस में तर्क वितर्क नहीं करना चाहिये। किसी प्रकार का कोई परिवर्तन भी नहीं करना चाहिये। राजसिक व तामसिक मार्गीय साधनायें कभी भी ध्यान की साधनायें नहीं मानी जा सकती हैं; अतएव राजसिक व तामसिक साधनायें समाप्त करके सात्विक मार्गीय साधनायें की जानी चाहिएं और वही ध्यान कहलाने के योग्य है।

किसी भी विधि का वर्णन करना केवल कष्टप्रद ही नहीं होता बल्कि उबा देने वाला भी हो सकता है; परन्तु उसी को यदि कर के दिखला दिया जाता है तो वही सरल और आनन्दप्रद हो जाता है। निष्ठापूर्वक, अनुष्ठानपूर्वक ध्यान करके ध्यान साधना के बारे में ज्ञान प्राप्त करना बहुत अच्छी बात है। तुम लोग मेरे लेख को पढ़ते हो परन्तु इससे ध्यान के बारे ज्ञान सुगम नहीं होगा। ध्यान के द्वारा मानव

अन्तर्मुखत्व प्राप्त करता है और आत्मा की दिव्यानुभूति प्राप्त करता है। ध्यान के द्वारा साधक भ्रान्ति देने वाले आवरणों को एक एक करके उतार कर फेंक देता है। उन्हें नष्ट कर देता है; इन्द्रियों के व्यापारों को सांसारिक विषयों व अनुभवों से धीरे धीरे अलग करता है। ऐसी परम पवित्र अवस्था को प्राप्त करने के लिये जो साधना होती है उसी को ध्यान कहते हैं। इसको प्राप्त करने के लिये मुख्यतया मानव को धर्मसम्मत व्यवहार करना चाहिए। सांसारिक विषय वासना और उसके प्रति जो तीव्र आकर्षण होता है उससे अलग होने के लिये वैराग्य भावना को प्रोत्साहन देना चाहिए। प्रत्येक समय में प्रत्येक अवस्था में साधक को सदैव उत्साह और प्रसन्नता के साथ रहना चाहिए। उसको प्रत्येक कर्म भौतिक जीवन और जीवनोपयोगी साधना की प्राप्ति के लिये नहीं बल्कि आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये करना चाहिए। उचित आसन में बैठने का अभ्यास करना चाहिए जिससे अवयव अभ्यस्त हो जावें और शरीर के भार व दबाव की ओर अपने मन को आकृष्ट नहीं होने देना चाहिये। इसी को सात्विक ध्यान साधना कहते हैं। इसके लिये अनुशासन बद्धता परम आवश्यक है। प्रथम प्रबोध में जो सिद्धान्त और नियम बताये गये हैं उनको नियम अभ्यास में लाने से व मन को दुर्व्यवहारों से हटाने में जिनसे साधारण दुःख व कष्ट होते हैं वह क्रमशः (धीरे धीरे) दूर हो जाते हैं। साधक का यह पहला कर्त्तव्य है कि वह इसका अनुष्ठान करे। कितनी भी अच्छी व गुणकारी औषधि क्यों न हो रोगी के पास उसे लाकर रख देने मात्र से ही रोगी अच्छा नहीं हो सकता। रोग और रोगी की अवस्था के अनुसार जब नियम पूर्वक अनुपान के साथ उस औषधि का प्रयोग

होता है तभी वह रोग दूर हो सकता है। दवा का जो सार है, उसका शरीर में व्याप्त होना आवश्यक है। शरीर ही औषधिमय हो जाना चाहिये। इसी प्रकार सिद्धान्त व वेदान्त मानव के व्यक्तिगत दोषों को हटाने में असमर्थ हैं। मानव को यदि उनका पूरा पूरा फल प्राप्त करने की लालसा है तो उसे असत्य रूपी विकृत भावनाओं को धीरे धीरे हटाना चाहिए। ये सिद्धान्त व वेदान्त जो परम सत्य के प्रतीक हैं उनको अपने जीवन में उतारने से ही उनके अनुसार जीवन व्यतीत करने से ही सब कुछ ठीक ही जाता है। साधक को अन्तर्मुखत्व और ध्यान की सिद्धि होनी ही चाहिए। उसका व्यवहार निर्मल होना चाहिए। यही उसका रहस्य है। साधक जब सत्य पंथी हो जाता है तभी उसे ध्यान में सफलता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति ऐसी महान् शक्ति एवं समर्थता पाने का अधिकारी है। यह बात मैं धीरे से नहीं डंके की चोट से कहता हूं इसलिए ध्यान करके अभ्युत्थान के भावों और आत्मज्ञान को प्राप्त करें।

प्रबोध-३

ध्यान का लक्ष्य :—

इस संसार में मानव जीवन की दो प्रकार की स्थितियां होती हैं। १. हितकर २. अहितकर। जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण–उसकी परिस्थिति और उसकी अवस्था के अनुसार यह श्रेणी विभाजन होता है। वही वस्तु या पदार्थ एक समय हितकर हो सकता है और दूसरे समय अहितकर। हितकर होना या अहितकर होना मानव के हृदयान्तर गत दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है। मानव को जिसका दर्शन एक बार हितकर लगता है वही दूसरी वार अहितकर के रूप में दिखलाई पड़ता है। एक समय में जो अत्यन्त प्रीतिदायक होता है सम्भवतः वही अन्य समय में अप्रीतिदायक हो जाता है और उसको देखने के लिये इच्छा भी नहीं होती है। इस प्रकार से सोचने विचारने का कारण केवल एक है–उन विभिन्न सगयों में भिन्न-भिन्न मानसिक स्थिति का होना। इसीलिये मन को सदैव प्रसन्न एवं प्रीतिदायक, हितकर के रूप में ही

बनाना चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का परमावश्यक कर्त्तव्य है। नदी का प्रवाह पर्वतों की चट्टानों से गिर कर घाटियों में उछलता, कूदता उनके अनुसार प्रवाह-मान होता है। इतना ही नहीं बीच-बीच में सहायक नदियों व नालों से मिलने वाला जल दूषित (गन्दा) भी हो जाता है। इस प्रकार मानव-जीवन प्रवाह में कुछ तीव्रतायें अधिक तीव्र प्रवाह के साथ आया करती हैं।

इस प्रकार की कठिनाइयाँ मानव-जीवन में किसी भी समय आ सकती हैं। कुछ लोगों को पहले, कुछ के जीवन काल के मध्य में तथा कुछ लोगों को अन्त में कभी न कभी आ ही जाती हैं। कोई इनसे बच नहीं सकता। अतः सर्व-प्रथम मानव को यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि जीवन ही संघर्षमय है। कठिनाइयां जीवन में आती ही रहती हैं। इस परम सत्य को जान लेने ही के पश्चात् भय-भ्रांति दूर हो सकते हैं। इन कठिनाइयों का स्वागत करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि मुझे नये-नये अनुभव प्रदान करने के लिये ही आई हैं। उसे केवल इस प्रकार की धारणा ही नहीं बनानी चाहिए बल्कि आनन्द के साथ उनका स्वागत करना चाहिए, चाहे कितनी भी बड़ी कठिनाई क्यों न हो। ऐसी परिस्थिति में कितनी भी मुसीबतें क्यों न आवें, कितना भी दुख क्यों न आवे वे बहुत साधारण प्रतीत होते हैं। इसका भी कारण मनःस्थिति ही है।

क्षण-क्षण से बाहर से और अन्दर से नाना प्रकार की प्रेरणायें मानव को मिलती रहती हैं। इन समस्त प्रेरणाओं को मन में स्थान देना सम्भव नहीं है। तब मानव को विचारना होगा कि इन असंख्य प्रेरणाओं में से कौन

कौन सी हितकर और मुख्य हैं। उन्हीं को ग्रहण करना चाहिये। और अपने मन का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये। इसी को कहते है 'एकाग्रता' या अवधान। किसी विषय को ठीक तरह से जाननें के लिए अवधान नितांत आवश्यक है। अपने लक्ष्य या प्रियतम वस्तु पर उद्देश्यपूर्ण अवधान या एकाग्रता एकाग्र-चित्तता कहलाती है। इसका कारण भी मन ही है। ऐसा अवधान या एकाग्र-चित्तता लक्ष्य या प्रिय वस्तु की प्राप्ति में काफी सहायता करते हैं।

एकाग्र-चित्तता हर एक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यही समस्त सफल कर्मों का मूल है। यह केवल ध्यान-योग के लिये ही नहीं लौकिक व सांसारिक विषयों के लिये भी नितान्त आवश्यक है। यदि व्यक्ति अपना कार्य एकाग्र-चित्त होकर सम्पन्न करता है तो उसके अन्दर आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव की भावना जाग्रत हो जाती हैं। ये दोनों भावनायें मन:—संकल्प पर ही आधारित हैं। इस प्रकार का संकल्प सत्कर्म व दुष्कर्म दोनों के लिये प्रयोग किया जा सकता है। इस तरह संकल्प पवित्र और अपवित्र दो प्रकार के होते हैं। अत: पवित्र सत्कर्म सद्-विचार—चिन्तन पर मनोसंकल्प आकृष्ट करने के लिए मनो-लक्ष्य अत्यन्त प्रधान है। ऐसे मनो लक्ष्य की सफलता व विफलता एकाग्रता पर ही निर्भर रहती है।

एकाग्रता शक्ति एवं समर्थता को जननी है। मन को शिथिल करने वाली लौकिक व सांसारिक विषयों पर विजय प्राप्त किए बिना एकाग्रता प्राप्त करना असम्भव है। ऐसी एकाग्रता और मनोविजय केवल ध्यान द्वारा ही प्राप्य है।

इस संसार में कुछ लोग अपने को पापी मान कर स्वयं ही अपनी निन्दा करते रहते हैं। कुछ लोग अपने को बहुत भला व ऊँचा करके निरन्तर अपनी प्रशंसा करते रहते हैं। ये दोनों ही श्रेणी के मनुष्य अपने मनोविकारों से पीड़ित हैं। इस प्रकार के लोगों को मन की सन्तुष्टी नितान्त आवश्यक है। इसके लिये ध्यान आवश्यक है। ध्यान से पहचान यानी ज्ञान और विकास प्राप्त होता है। इसे साकार करने के लिये इनके प्रति अभिरुचि आवश्यक है। अभिरुचि संवेदना के रूप में चित्त एकाग्रता को प्रेरणा देती है। यह संवेदना [प्राप्य वस्तु के लिये उत्कट अभिलाषा] भी सत् या असत् हो सकती है। कुछ लोगों का झुकाव संगीत के प्रति होता है—क्यों? इन लोगों को उसके प्रति अभिरुचि है। वह संवेदना उनको अत्यन्त प्रिय है। इष्ट है। कुछ लोग अपने स्वर्गीय मित्रों व सम्बन्धियों के शरीर को देखना चाहते हैं। इस दर्शन में जो संवेदना है वह शोकदायक है। इन मृत शरीरों पर दृष्टिपात भी अभिरुचिदायक ही है। ये अभिरुचियां चाहे जिस प्रकार की हों अवधान के लिये वे शक्तिदायक होती हैं। अभिरुचि में अवधान को प्रोत्साहन देने की शक्ति निहित है। अभिरुचि जब प्रछन्न रहती है, गुप्त रहती है, उसे अवधान कहते हैं। क्रियात्मक अवधान को अभिरुचि कहते हैं यदि अभिरुचि ही का अभाव है तो अवधान शक्ति भी नहीं होती है। अवधान की वृद्धि या क्षय अभिरुचि की वृद्धि या क्षय पर आधारित है। इस समस्त के लिये एकाग्रता मुख्य है। एकाग्रता की जननी ध्यान हो है। ध्यान से ही एकाग्रता एवं सफलता प्राप्त होती है।

ध्यान की साधना से ही इस विश्व में ऋषियों तथा महात्माओं ने हर समय हर अवस्था में अपनी मनोवृत्तियों को संयमित करके अपने मन को सात्विक मार्ग की ओर झुकाकर, सर्वेश्वर चिन्तन में तैलधारा वत् ध्यान करके सर्वेश्वर से ऐक्यता प्राप्त कर सके। प्रथम अभिरुचि, द्वितीय मनो-लक्ष्य निर्धारण तथा इनके माध्यम से चित्त एकाग्रता तब मनोविलय—मनोविलय ही ध्यान का लक्ष्य है।

मानव को अपने आनन्दमय भविष्य को ध्यान में रख कर सांसारिक सुख और विषय वासनाओं से अलग हो जाना चाहिये। उनके चंगुल में नहीं पड़ना चाहिये। इन सुखों की उपेक्षा करनी चाहिये। मन से वर्तमान असंख्य कामनायें, दुख, बाधायें तथा असत्य रूपी भय और काल्पनिक सुखों को भी हटा देना चाहिए। मन को विवेक, बुद्धि सिखाना चाहिए। उसे विवेचना करना सिखाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। जो दिखाई पड़ते हैं वे असत्य हैं ऐसा सोचना चाहिए। मानव की वर्तमान दयनीय दशा इन्हीं कारणों से है। ध्यान ही इसकी औषधि है। मानव जीवन में जो कठिनाइयां और कष्ट हैं। उनके लिये ध्यान का अभ्यास ही सर्वबाधा निवारक है, रामबाण है। इस प्रकार के अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है।

मन को अपना भ्रम और सांसारिक सुख रूपी स्वप्नों को भुलाकर अपने वास्तविक स्वर्ग का ज्ञान करना चाहिये। ऐसा ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। क्रमशः नियमपूर्वक शान्ति एवं प्रसन्नता के साथ ध्यान का अभ्यास करने से ध्यान में तीव्र गति से उन्नति होती है। महान् अनुभव प्राप्त

करने का पथ स्पष्ट हो जाता है। नये नये प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं। मन में प्रशान्ति व निर्मलता आती है। जब मानव निरन्तर ध्यान करके ध्यानरूपी पर्वत की चोटी पर पहुंचता है तो ज्ञान शक्ति; पहचानने की शक्ति, अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती है। और वह अपने काल्पनिक जीव स्वरूप को ध्वस्त कर देता है; भस्म कर देता है। जब इसका बोध हो जाता है कि केवल मैं हूँ अन्य कोई दूसरा नहीं है और यह सम्पूर्ण विश्व मेरे भ्रमित मन का परिणाम है।

परम सत्य केवल एक भगवान है जो त्रिकालातीत है। भगवान सच्चिदानन्द परमात्मा है। मैं उनसे विलग नहीं हूँ। तब शिवोऽहम ऐसी अनुभूति प्राप्त होती है। यह परम सत्य कितना सुगम है।

वास्तव में इस परमसत्य में, परमात्मा के जगत में, न कोई ध्यान है, न कोई ध्यान करने वाला पदार्थ ही है। सब एक हो जाते हैं। यही शाश्वत तेजोमय अनुभव है। सम्पूर्ण ज्ञान मैं हूँ ऐसा गीत गाते हुए ज्ञानी निःशब्द, निश्चल भावना के साथ अपने में अपनी आत्मा के वैभव का दर्शन करता है। वही आनन्ददायक गन्तव्य स्थान है। दिव्य अमृत फल है। योग समाधि में ऐसे वाह्यातीत अनुभव प्राप्त करके ध्यान करना समाप्त करके मानव जगत में नैसर्गिक रूप से विचरता है व्यवहार करता है।

उसमें सम्पूर्ण वेद निहित रहते हैं। वह निर्मल जीवी के रूप में सदैव रहता है। देश व काल जनित परिस्थितियों को अतिक्रमण करके सर्वावस्था में सदा एक रूप रहने और दृढ़ता के साथ समस्त आपदाओं व संकटों का सामना करने की शक्ति केवल ध्यान ही से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त

कोई और उपाय नहीं हैं। वह स्वयं ब्रह्म है।

जीव जब एक बार परिपक्वावस्था की ओर अग्रसर होता है तो उसे अपने में ही सम्पूर्ण सन्तृप्ति और आनन्द प्राप्य होने लगता है। अब तक जीवन में जो नाना प्रकार के कष्टदायक दुराशायें दुष्ट कामनायें मोह व्यामोह और पाशविक प्रवत्तियां वर्तमान थीं वह सब दूर हो जाती हैं। आत्मा समस्त लोगों में समानता से व्याप्त है इसलिये आत्मज्ञान की अवस्था में परिमिति व्यक्तित्व की भावना अहं की भावना समाप्त हो जाती है। और वह अपने वास्तविक देवपद तथा यथार्थ स्वरूप का अनुभव करने लगता है। ऐसे ही व्यक्ति सच्चे महात्मा हैं जीवन मुक्त हैं। परिपूर्णता ही आनन्द है। आनन्द ही शक्ति है। भगवान का वास्तविक स्वरूप, परिपूर्णता, आनन्द और शान्ति है। विवेक मार्ग को कदापि भी न त्यागने वालों को भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है। वे दिव्य आत्मा प्राप्त करते हैं। इस काल्पनिक जगत के स्वप्नवत् भ्रमों के मूल कारण चिरन्तन सत्य के अन्वेषण में वे सदैव लगे रहते हैं।

स्वेच्छाचारी ज्ञानेन्द्रियों को संयम में रखने से व्याधि का कारण ही दूर हो जाता है। मन और उसकी विकृत चेष्टाओं को सदैव ध्यानपूर्वक देखो। मन के असंख्य भावनाओं रूपी महान प्रवाह को रोको। भावनाओं का दबाव कम करने के लिये भगवत् नाम उच्चारण करो, जपो। इससे मन में किसी प्रकार के दुख, कष्ट या व्याधा के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। मनोविलय के पश्चात् ही ज्ञानोत्पत्ति होती है। इसमें जिसने सफलता प्राप्त करली है वही परिपूर्ण मानव है। पहले साधक को 'अन्तर्मुखत्व' प्राप्ति का रहस्य जानना

चाहिए। अब तक जीवन में सदैव वहिर्मुख दृष्टि रखने के ही तुम अभ्यस्त हो। अब तक तुमने अन्तर्जगत के बारे में बहुत कम ही सुना होगा। दिव्य जीवन केवल अन्तर्जीवन ही है। जैसे शिशु प्रथम धीरे धीरे देखता है फिर उन्हें समझता है और फिर धीरे धीरे घर में इधर उधर चलता है इसके लिये सहायता प्राप्त करता है। इसी प्रकार पहले नवीन साधक को भी अन्तर्मुखत्व संसार को जानने के लिये सीखना चाहिये। जैसे पालने पर लेटा हुआ स्वस्थ शिशु दीवाल पर लगे हुये दीपकों को देखकर आनन्द से हाथ पैर इधर उधर फेंकता है, किलकारी मारता है। इसी प्रकार साधक को भी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य से पूर्ण इस सांसारिक जीवन को बिताते हुये इनसे कोई भी लगाव या मतलब नहीं रखना चाहिये। अन्तर्मुखत्व की ओर ही उसको ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये। हर एक चिंतन, हर एक वाक्य, हर एक कार्य तुम्हारा सम्पूर्ण प्रज्ञा के साथ होना चाहिये। अपनी बुद्धि को इधर उधर भटकने मत दो। उसे अन्तर्जगत के रक्षक के रूप में नियुक्त करो। यही दृष्टि है। इस अन्तर्दृष्टि के लिये भी ध्यान ही प्रधान है।

इस अन्तर्जगत में हर साधक आत्म विमर्श (Self Examination) व आत्मचिंतन के द्वार से प्रवेश कर सकता है। जीवन के पवित्र पद को प्राप्त करने के लिये भय एवं भक्ति के साथ संवेदना पूर्वक जो साधक अखण्ड प्रयास करते हैं उनका यह द्वार स्वागत करता है।

प्रबोध—४

सत् गुणी ध्यानी का लक्ष्य :—

ध्यानी के लिये आत्मानन्द की प्राप्ति प्रधान है। किन्तु इसके साथ ही साथ लोक हित भी नितान्त आवश्यक है इनकी प्राप्ति के लिये कतिपय कायिक वाचिक व मानसिक संयम आवश्यक हैं। उसे पापों से बचना चाहिये ये दस पाप हैं। कायिक पाप तीन हैं। वाक सम्बन्धी पाप चार प्रकार के हैं; और मानसिक पाप तीन प्रकार के होते हैं।

कायिक पाप तीन हैं :—

१. चेतन को क्षति पहुँचाना
२. पर स्त्री पर आसक्ति
३. चोरी करना

वाक सम्बन्धी पाप चार हैं :—

१. अनर्गल प्रलाप
२. कटु वचन
३. द्वेष पूर्ण सम्भाषण
४. असत्य या मिथ्या भाषण

मानसिक पाप तीन हैं :—

१. पर धन पर आसक्ति (लालच)
२. ईर्ष्या
३. नास्तिकता

ध्यान प्राप्ति करने वाले साधक को चाहिये कि इन दसों पापों को अपने पास न आने दे। इनका पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये। उसको ध्यान मार्ग में उत्साहित करने वाली प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन देना चाहिये। मानव को कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से केवल शुभ कार्य ही करना चाहिये। अशुभ कार्य नितान्त धर्म विरुद्ध होते हैं। शास्त्रों में भी कहा गया है कि शुभम् ही मंगल है और मंगल ही शिव (कल्याण) है। ऐसे शुभ कार्यों से ही मानव शिवम् में विलय हो सकता है। इहलोक और परलोक दोनों ही की प्राप्ति इसके द्वारा हो सकती है। वह अपनी भी उन्नति कर सकता है और अन्य लोगों का भी कल्याण कर सकता है। ज्ञान का फल हित है और अज्ञान का फल अहित। हित (शुभकार्य) के द्वारा ही शान्ति, सन्तोष, शुभ एवं लाभ की प्राप्ति होती है। वास्तव में सर्वजनहिताय कार्य मानव का कर्त्तव्य है। धर्म में अपना समय व्यतीत करना जीवन का लक्ष्य है; उद्देश्य है।

सब चीजों की साक्षी इस भौतिक संसार में बुद्धि ह। वह उपाधि सहित होके चैतन्य रूप में रहती है। यह उपाधि सहित बुद्धि समष्टि रूप में ही माया है। माया रहित, माया विछिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। इसीलिये ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिये माया का विछिन्न करना प्रधान है। माया को

विछिन्न करने के लिये विवेचना शक्ति आवश्यक है। इसी का दूसरा नाम है विवेक। ऐसा विवेक ही मानव का मूल्याधार हित जो प्रकृति सम्बन्धी प्रत्येक विषय को अपने संयम में रखता है।

सम्पूर्ण जगत माया से सम्बन्धित है इसीलिये जगत को असत्य, मिथ्या कहा जाता है। जगत असत्य है, मिथ्या है और हममें कुछ त्रुटियां हैं केवल इतने ही ज्ञान से मानव आगे नहीं बढ़ सकता है और न परम-सत्य पद को प्राप्त ही कर सकता है। गुणों के अभाव से वृद्धि नहीं पा सकता है। वृद्धि पाने के लिये केवल क्षेत्र-योग्यता ही मिली है। इस योग्यता प्राप्त क्षेत्र में स्वर्ण रूपी बीजों को बोकर विवेक रूपी जल से सींचना चाहिये। समय की परिपक्वता से फल अपने आप प्राप्त हो जाता है। यदि सुवर्ण रूपी बीजों को नहीं बोते हैं तो योग्यता–प्राप्त–क्षेत्र में भी अयोग्यता रूपी घास फूस उत्पन्न हो जाता है और वृद्धि को प्राप्त करता है अच्छा उपवन न होकर झाड़ झंखाड़ पूर्ण घने जंगल में रूपान्तरित हो जाता है।

अविवेक या अहङ्कार रूपी अंधकार के कारण सुगुणों के अभाव की स्थिति प्राप्त हो जाने पर मानव यदि श्रद्धा एवं परिश्रम से सुगुण सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता तो साधक का जीवन सार हीन हो जाता है; शून्य हो जाता है और जीवन में कोई रुचि न होने से ऊब जाता है। तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि यह सब कुछ केवल शून्य है। इस अवस्था में मानस अनेक प्रकार की विपरीत शक्तियों के घात प्रति घात में पड़ कर चंचलता

प्राप्त कर लेता है और सुगुणों की वृद्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार का मन अत्यन्त भयावह हो जाता है और मन की इस भयावह परिस्थिति में थोड़ी सी भी असावधानी से उसका सर्वनाश हो जाता है और साधक ने अब तक जो कुछ भी थोड़ी बहुत उन्नति की है वह नष्ट हो जाती है। जैसे बारूद के ढेर में अग्नि कण पड़ जाने से भयानक विस्फोट हो जाता है। इसी प्रकार साधक का सर्वनाश हो जाता है।

केवल गुणों की अभाव स्थिति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने वाला व्यक्ति हीन हो जाता है। उसका जीवन बेकार हो जाता है और वह जीवित मरण की स्थिति का अनुभव करता है। उसका पोला चेहरा शव तुल्य दिखाई पड़ता है। वह निरुत्साहित दिखाई पड़ता है। विवेक रहित चितापूर्ण साधक श्रद्धा युक्त होने पर भी अनजाने इस दुरावस्था रूपी सङ्कीर्ण पथ में पड़ जाता है और आत्म-हत्या कर लेता है। गुणहीन अवस्था की अन्त में आवश्यकता पड़ती है किन्तु आध्यात्मिक पथ में शीघ्रता करने से ही उपरोक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है अतः शीघ्रता न करनी चाहिये। सर्वप्रथम मन में सुगुण सम्पदा पाने के लिये अथक परिश्रम करना चाहिये। इसमें कमी होने से अनेक धीर साधक भी वर्षों तक तपस्या करने पर भी निरुत्साही हो जाते हैं और पथ भ्रष्ट होकर दल दल में जा फंसते हैं।

इसी लिये गुणाभाव स्थिति प्राप्त करना नितान्त आवश्यक होने पर भी उसका प्राप्त करना विपद् हीन नहीं है। मानस निर्व्यापार स्थिति में कभी नहीं रहता। वह सदैव किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहता है। अतः कामनाओं को दबा

कर निष्कामना स्थिति स्थापित करनी चाहिये। सुगुण मन ईर्षा और द्वेष को दबा देता है और दूसरों की भलाई ही अपनी भलाई है इस स्थिति में पहुंचता है, वह किसी की हानि नहीं करता है। सर्वदा सबका भला करने का ही प्रयास करता है। वह केवल सहनशीलता का गुण ही नहीं प्राप्त करता बल्कि क्षमा करना भी जानता है। असत्य की ओर नहीं झुकता है और केवल सत्य भाषण के लिए लालायित रहता है। सुगुण मन काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा अहङ्कार से विलग हो जाता है। और प्रशान्ति स्थिति को प्राप्त करता है। माया 'भ्रामक स्थिति' से छुटकारा पा जाता है और सर्वदा सर्व-हितैषी ही रहता है। ऐसे मन से निर्मल प्रेमामृत-धारा अखण्ड प्रवाह-रूप से बहती है। सुगुण मन शक्तिशाली होकर आगे बढ़ने की क्षमता प्राप्त करता है। अच्छे अच्छे गुणों एवं भावनाओं की ग्रहण शीलता उसमें रहती है। इसको ही केवल निर्गुण, निरालय निर्मल मन कहते हैं, ऐसा ही प्रशिक्षित मन सर्वेश्वर में विलय पाता है उससे एकाकार हो जाता है।

दुर्भाग्यवश ऐसी अन्तर्मुखी शान्ति का अनुभव करने का अवसर उपलब्ध होने पर भी मानव उससे अपरिचित होने से निजशान्त अचल सत्य स्वभावों के लिये परदेशी [अजनबी] हो गया है। आजकल के आशाउद्वेग रूपी अनेक प्रकार के कल्लोलों सहित इस जीवन सागर में विश्रान्ति देने वाला तथा दे सकने वाला सत्य द्वीप केवल ध्यान मात्र ही है।

जब हम सांसारिक कार्यों का प्रतिपादन करते हैं

सांसारिक विषयों पर ध्यान लगाते हैं तो मन में वेदान्तिक सत्य भी वर्तमान रहना चाहिये। करोड़ों वर्ष पूर्व के इस संसार की स्थिति का ध्यान करो। उस समय यह समस्त विश्व केवल दो वस्तुओं से पूर्ण था एक तो ज्वालामुखी पर्वतों से निकल कर बहने वाला भयावह लावा प्रवाह जो पृथ्वी को जला दे रहा था और प्रलय का दृश्य उपस्थित किये था। दूसरी ओर साधारण दृष्टि से अगोचर सूक्ष्माति सूक्ष्म जीवाणु अमीबा (Amoeba)। जो पत्थर की दरारों में या जल पर तैरते हुए वर्तमान थे, जो जीवन के अस्तित्व व तेज को सुरक्षित रखे हुए थे। इन दोनों में तुम किस बात पर विश्वास करोगे ? जो विमर्श करते हैं वे इन जीवाणुओं का जिक्र ही नहीं करेंगे। उस समय निश्चय ही कोई विश्वास नहीं कर सकता था कि भविष्य इन जीवाणुओं पर निर्भर है। प्रलयकारी भूकम्प व प्रलयकारी लावा का प्रवाह दोनों का मुकाबला करके ये जीवाणु कैसे जीवित रह सकते हैं और कैसे जीवित रह सके हैं ? क्या यह सम्भव है ? मगर काल की गति कौन जान सकता है ? इस जीवन शक्ति ने विजय पाई। आंधी, तूफान, अग्नि, जल इत्यादि पर विजय प्राप्त करके यह जीवाणु क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करता हुआ दैव सम्पदा, कला, गान, नृत्य, शास्त्र, साधना, सम्पन्न मानव रूप में विकसित हुआ जिसने धर्म रक्षा में अपने को बलिदान कर दिया। अनेक प्रकार के सदाचारी व पवित्र पुरुष यहाँ तक कि अवतारी पुरुषों को भी जन्म दिया। इन सब लोगों की जीवनियों से इतिहास भरा पड़ा है। चैतन्य देखने में आडम्बर रहित दिखाई पड़ता है किन्तु प्रलय के महान आवेश से भी कई गुना बलवान है। इस प्रकार की तीव्र घटनाओं में पड़कर वह कभी कभी ऐसे

मनुष्यों में विश्वास करने लगता है जो स्वयं माया के दास हैं। किन्तु अपने विचारों को उग्रता से तीव्रता से प्रकट करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में यदा कदा चमत्कार के लक्षण भी हो सकते हैं, किन्तु यह अस्थायी है, शाश्वत नहीं। स्थिति जब शान्त होती है तो मानव चैतन्य माया-रहित सत्य जगत में प्रवेश कर निमग्न हो सकता है। यह उच्चतम पद है जिसे वह प्राप्त कर सकता है। इस शान्ति से बढ़कर कुछ नहीं है। ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रशान्ति स्थिति में मानव ज्ञान पूरित प्रयत्नों से, ध्यान की साधना से प्रवेश करके चैतन्य पद को प्राप्त करके उसके पूर्ण फल वैभव को अनुभव करके दैवपद रूपी जीवन के गन्तव्य स्थान पर पहुंच सकता है, जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इससे परिचय न होने के कारण मानव इसके लिए प्रयास नहीं करता। ध्यान से कोई आनन्द का प्रारम्भिक अनुभव कर सकते हैं। ध्यान साधना ही उसे प्राप्त करने का मार्ग है।

इसीलिये इस प्रशान्ति आनन्दमय स्थिति से और उसकी पहचान से, उसके स्वभाव से मन को अवगत कराना चाहिये। उसके लिये मन को शक्ति पूरित करना सबका धर्म है। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो इस बात की पूर्ण आशंका रहती है कि ऐसी आनन्दमय स्थिति का केवल शून्य या निरर्थक कहकर उससे मुंह न मोड़ लें। किन्तु यदि उसे विश्वास हो जावे कि चैतन्य के साथ तदात्मा के क्षण भी समस्त शक्ति पूरित होते हैं और मानव क्रमशः अभिवृद्धि पाता है और सत्य स्वरूप आत्मा का अनुभव प्राप्त करता है, तब मानव अपने प्रयास में शिथिलता नहीं आने देता और अन्ततोगत्वा बिना विघ्न बाधा के आत्मिक आनन्द प्राप्त करता है।

इसी धारणा को आदर्श मानकर तुम सभी लोगों को ध्यान करना चाहिए और जप करना चाहिए। ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है। अष्टांग योग में ध्यान का स्थान सप्तम है। समस्त साधनाओं का मूलाधार ध्यान है। इस पवित्र समाधि प्राप्ति का जो राज पथ है उसका त्याग मत करो।

प्रबोध—५

आत्मदर्शन का सतत प्रयास ध्यान का प्रथम मार्ग है :—

इस संसार में नाना प्रकार के लोग नाना प्रकार के मार्गों में प्रयास कर रहे हैं किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ आत्मानुभूति के लिये प्रयास करना प्रत्येक मानव के लिये अत्यावश्यक है। समस्त प्रयास आत्मानुभूति-प्रयास पर ही आधारित है। इन समस्त प्रयासों का वह राजा है। राजा जनता के लिये नियम कानून बनाता है परन्तु वह स्वयं इन सबसे परे है। राजा शासन करने वाला है। इसीलिये यह प्रकृति सम्बन्धी सर्व नियम पाप, पुण्य, अच्छाई बुराई सुख-दुख, अनुभव-हीन-मन और बुद्धि पर आधारित जीवों के लिये है, आत्मा के लिए नहीं है। ऐसे आत्मानुराग प्राप्ति के लिये नहीं है। ऐसे आत्मानुराग प्राप्ति के प्रयास करना सबके लिये आवश्यक है। ऐसा निर्मल निश्चय निःस्वार्थ आत्मानुरागी-प्रयास सभी लोगों की जननी सदृश्य है। सभी लोगों को आत्मानन्द पाने की इच्छा होती है। सभी को उसके पाने का अधिकार है। मानव उसका पुत्र होने से उसमें यह योग्यता रहती है, योग्यता ही नहीं

उसको पाने का पात्र भी वह है। इसीलिये आध्यात्मिक साधनाओं को मैं इतना महत्व देता हूं। आध्यात्मिकता का अर्थ अन्तरात्मा अर्थात् परब्रह्म से सम्बन्धित ब्रह्म विद्या से है। साधना का अर्थ विद्या ही है। अतः आत्म सम्बन्धी अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी विद्या का सीखना मानव रूपी विद्यार्थी के लिये परम लक्ष्य है।

ऐसे विद्यार्थियों के लिये कुछ न्यूनतम योग्यतायें रखना आवश्यक है और तभी वे उस पथ पर चलने के योग्य होंगे और उस स्थिति पर पहुँच सकेंगे। ये न्यूनतम योग्यतायें इस प्रकार हैं :—विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (अर्थात् ६ प्रकार के सद्‌गुण) ये तीन योग्यतायें जिसके अन्दर हैं वह निःसन्देह निश्चयात्मक रूप से अत्मा को पा सकता है। ऐसे आत्म-स्वरूपी परमात्मा के ६ गुण हैं। वे हैं १. सम्यक् (परिपूर्ण) २. वैराग्य ३. सौन्दर्य ४. ऐश्वर्य ५. कीर्ति ६. श्री। ये गुण सत् चित् आनन्द स्वरूपी स्वाभाविक हैं। सत् (सम्पूर्ण स्थिति) चित् (परिपूर्णज्ञान) आनन्द (परिपूर्ण आनन्द) ये कदापि भूत, प्रेत, पिशाच सम्बन्धी नहीं हैं। ये पवित्र आत्म स्वरूपी मानवों से सम्बन्धित हैं। इसीलिये सत् चित् आनन्द को पहचानने का अधिकार व हक प्रत्येक मानव को प्राप्त हैं। वही उसका परम धर्म है। ऐसे परम धर्म के उल्लंघन के ही कारण इस संसार में अशान्ति पर्याप्त मात्रा में फैल गई है।

साधारण मानव के अपने गृहस्थ धर्म के पालन न करने से, धर्म के विपरीत चलने से व गृहस्थ धर्म के उल्लंघन करने से ही यह अशान्ति व्याप्त हो गई है। वे शास्त्र तथा मनुस्मृति द्वारा निर्दिष्ट पथ पर नहीं चलते। उनमें सत्य

का लेश मात्र भी नहीं होता। यह सत्य, सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस परम पवित्र सत्य को हृदयंगम न करना ही अशान्ति का कारण है।

इस प्रकार वे केवल प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने में स्वल्प बाधाओं को भी सहन नहीं कर पाते और जीवन से विरक्त हो जाते हैं। इनमें नकली वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। अपने लिये शास्त्र निहित धर्म का वे विधिपूर्वक पालन न करने से ही इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं। अगर वे शास्त्र निर्दिष्ट धर्म का पालन करते तो न तो उन्हें संन्यास ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती और न ही हिमालय में कन्दराओं को खोजने की आवश्यकता पड़ती। वे अपने धार्मिक-जीवन-पालन में ही भगवत् स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं।

भगवत् चिन्तन इस धार्मिक जीवन का अंग होना चाहिये। ऐसे धार्मिक जीवन के लिये इस संसार के पाण्डित्य व आडम्बर की आवश्यकता ही नहीं है; इससे तो केवल मनुष्य पथ भ्रष्ट ही होता है। ऐसे धार्मिक जीवन से ही मन और बुद्धि पर संयम प्राप्त होता है और तत्पश्चात आत्मानुभूति का प्रयास महान आनन्द के साथ करते हुए गौण रूप से अपनी इच्छा शक्ति को दृढ़ कर सकते हैं।

ऐसे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने के लिये सद् चरित्र अत्यन्त प्रधान है। इसके लिये दुर्गुणों को नष्ट कर देना चाहिये। जैसे सेनापति के पतन से सेना या तो तुरन्त आत्मसमर्पण कर देती है या पलायन कर जाती है। उसी

प्रकार इन दुर्गुणों के सेनापति अहंकार या अहम् का नाश करने से समस्त दुर्गुण रूपी सैनिक स्वयं आत्मसमर्पण कर देते हैं। बिना दुर्गुण रूपी सैनिकों के अहङ्कार रूपी सेनापति कर ही क्या सकता है। समस्त दुर्गुणों की जननी क्रोध है। क्रोध का समूल नाश कर देने से दुर्गुणों की उत्पत्ति कहां से होगी ? इसका नाश करना हो परम श्रेष्ठ मार्ग है। अगर क्रोध को जोत लिया तो इन दुर्गुणों का अस्तित्व ही नहीं रहता। यदि दुर्गुण रूपी सैनिक नहीं है तो अहङ्कार रूपी सेनापति कहाँ से आ सकता है ? अतः प्रत्येक साधक को चाहिये कि दुर्गुणों की जननी क्रोध का समूल नाश कर दें और अपने मन को शान्त रखें। यदि दुर्गुण रूपी सैनिक नहीं है तो सेनापति हम पर हमला कैसे कर सकता है। सैनिकों के बल पर ही सेनापति युद्ध प्रारम्भ करता है। इसलिये यदि साधक को अपना मनो राज्य सुरक्षित रखना है तो इन सैनिकों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये, इनको उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिए क्योंकि जब सैनिक होते हैं तो उनसे लड़ना भी पड़ता है। हर साधक को चाहिए कि सद् गुणों से अपने सम्बन्ध और घनिष्ट करके अपने मनो राज्य को सुरक्षित रखे अपने आत्म स्वरूपी महाराज का सदैव दर्शन करता रहे।

इस महाराज के दर्शन के लिये मनों प्रवृत्तियों का नाश करना होगा इनके नष्ट करने के लिये उसे आठ द्वारों से गुजरना है।

वे आठ द्वार निम्नलिखित हैं—

१. यम	५. प्रत्याहार

२. नियम	६. धारणा
३. आसन	७. ध्यान
४. प्राणायाम	८. समाधि

इन आठ प्रकार के मार्गों द्वारा मनो नाश करना चाहिये तदुपरान्त इच्छा शक्ति की बहुत सरलता से वृद्धि कर सकते हैं। इच्छा शक्ति ही भगवान का स्वभाव है। इसी को भगवान का अध्यादेश भी कहते हैं। भगवान इच्छा मात्र से ही कठिन से कठिन कार्य को तुरन्त और सरलता से कर देता है। इसके विपरीत मानव अपनी इच्छा की पूर्ति विचार मात्र से नहीं कर सकता है। इसका कारण इच्छा शक्ति की क्षमता में अन्तर होना है। मानव में इच्छा शक्ति इतनी दृढ़ नहीं होती है। ऐसी दृढ़ इच्छा शक्ति प्राप्त कर लेने से भगवान की शक्ति से वह बहुत कुछ समानान्तर हो जाता है। इसी को कहते हैं लय (विलय) ऐसी लय की प्राप्ति के लिये ध्यान ही साधन है। उपरोक्त अष्टांङ्ग साधनाओं में ध्यान का स्थान सप्तम है और समाधि का अष्टम अर्थात् ध्यान समाधि की पूर्व सीढ़ी है। ध्यान के बाद ही समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। इसलिये समाधि प्राप्त करके अपरोक्ष ब्रह्म के दर्शन के लिये ध्यान ही राज पथ है।

इस संसार में कुछ लोग सोचते हैं कि कामना और इच्छा दोनों एक ही हैं। यह तो महान गलती है। दोनों के मध्य बहुत कुछ अन्तर है। कामना का सम्बन्ध वासना से है। किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयास करना अर्थात् उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये कुछ कारण हैं। इच्छा के अर्थ हैं बिना कारण उसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये उत्कट

अभिलाषा। यह दोनों ही नैतिक प्रयास पर निर्भर है इसलिए प्रथम आत्मानुभूति का प्रयास करके केवल उसी प्रयास को प्राथमिकता देना चाहिए। तत्पश्चात् उसी के अनुरूप कामना और इच्छा को चलाना चाहिए। आत्मानुभूति के प्रयास किये बिना, इच्छा का प्रयास और कामना का प्रयास करने में मनों वासनाओं के चक्कर में पड़ जाने की महान आशंका रहती है।

ऊपर की सीढ़ी पर खड़ा हुआ व्यक्ति नीचे की सीढ़ियाँ सरलता से देख सकता है मगर नीचे की सीढ़ी पर खड़ा हुआ व्यक्ति ऊपर की सीढ़ियों को ठीक से नहीं देख सकता है। इसलिये एक एक सीढ़ी चढ़ते हुए निरन्तर ऊपर उठने का प्रयास करो। इसके लिये आत्मानुभूति का प्रयास करना पड़ता है तत्पश्चात् इच्छा का प्रयास और अन्त में नैतिक प्रयास। ऐसी धारणा के साथ प्रयास करोगे तो आत्मानन्द स्वरूपी के बहुत ही निकट पहुंच जाओगे।

छोटे बालक को माता प्रथम घर के अन्दर ही इधर उधर चलने का प्रयास धीरे धीरे कराती है और उसके बाद ही उसे सड़क पर चलने के लिये जाने देती है। क्या यह सम्भव है कि बालक को यदि प्रथम ही सड़क पर छोड़ दिया जावे तो वह चलना सीख सकेगा? सड़क पर की नाना प्रकार की विपदाओं से अपनी सुरक्षा कर सकेगा? इसलिए प्रथम मार्ग अन्तर्मुखत्व मार्ग का अभ्यास यदि कर लिया गया तो बहिर्मुख मार्ग में कोई कठिनाई नहीं होती है। किसी विपदा की सम्भावना नहीं रहती। यदि केवल बहिर्मुखी नैतिक मार्ग पर चलने का प्रयास किया गया तो अन्तर्मुखी मार्ग पर पहुंचना ही दुष्कर हो जाता है। इसीलिये मैं अपने उपदेश

में अन्तर्मुखत्व के लिये प्राथमिकता दे रहा हूं।

साधना का लक्ष्य कामनायें, वासनायें, फल प्राप्ति की इच्छा को दूर करना है। कामनायें, वासनायें यदि दूर हो गईं तो प्रवृत्तियाँ अपने आप दब जाती हैं। वासना-रहित स्थिति की प्राप्ति में सहन-शीलता व दृढ़ चित्तता दोनों ही का होना आवश्यक है। यदि ध्यान करने में उत्साह नही है, कष्ट होता है तो निश्चय है कि ध्यान योग साधना विधि में कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। कदाचित् सहन-शीलता की मात्रा उसमें वहुत कम है। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये साधकों को चाहिये कि सर्वप्रथम श्रद्धा, सन्तोष, उल्लास व तेज के साथ कार्य करने की प्रवृत्ति की वृद्धि स्वयं में करें। कितने ही प्रलोभन व कष्ट क्यों न आवें अपना लक्ष्य नहीं बदलना चाहिये। साहस के साथ अपना कार्य करना चाहिए। कष्ट और प्रलोभनों का जीवन क्षण भंगुर होता है। यदि सहन-शीलता का अभ्यास हो गया है तो सरलता से लक्ष्य भेद कर सकते हैं। यदि सहनशीलता का अभ्यास नहीं है तो क्षण मात्र की असावधानी से साधक का अब तक का किया हुआ प्रयास अकारथ हो जावेगा। अब तक की समस्त उन्नति व्यर्थ हो जायेगी।

साधक, संन्यासी व ध्यान-योगी को अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए ही सीढ़ी के डण्डे चढ़ने हैं—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार और सम्मत। सांसारिक ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है। जब संसार स्वयं ही मिथ्या है तो इसका ज्ञान सच्चा कैसे हो सकता है। यह असत्य का ज्ञान

है। नित्य अन्तर्मुखत्व का आत्म ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। उसकी प्राप्ति के लिए साधक को ध्यान मार्ग पर चलना है। ध्यानाग्नि और योगाग्नि मनोकर्म रूपी सूखे पदार्थों को तुरन्त भस्म कर देते हैं जिस तरह आग सूखे पत्ते व घास फूंस को भस्म कर देती है। मनोकर्म के भस्म होते ही आत्म ज्ञान प्रकाशमान हो जाता हं। ये प्रकाश (आत्मज्ञान) अविनाशी है, किसी वस्तु के सम्पर्क में आकर धूमिल होने वाली या भस्मीभूत होने वाली नहीं है। इसका कभी अन्त नहीं होता ; यह अनन्त है। ऐसे आत्म ज्ञानी के लिये न तो कोई भूत है और न भविष्य। उसको समस्त व्यापार वर्तमान काल के रूप में ही दिखाई पड़ता है।

यदि ऐसी क्षमता और ऐसा अनुभव पाने की इच्छा है तो उसके लिए कुछ साधनायें करनी पड़ेंगी। वाह्य स्वच्छता के लिये जिस प्रकार साबुन, रोठा आदि की आवश्यकता होती है ; उसी प्रकार मानस को साफ करने के लिये जप, ध्यान, नाम-स्मरण की व भगवत चिन्तन आदि की आवश्यकता होती है। स्थूल शरीर की पुष्टि व उसे शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार आहार व जल आवश्यक है उसी प्रकार मनोबल प्राप्ति के लिए भगवत चिन्तन रूपी आहार की नितान्त आवश्यकता है।

जल-पूर्ण सरोवर में जब तक तरंगें उमड़ती रहती हैं तब तक उसका तल(पेंदा) ठीक तरह से दिखाई नहीं पड़ता इसी प्रकार मन-रूपी सरोवर में कामनायें रूपी तरंगे जब तक उठती रहती हैं तब तक आत्म रूपी तल (पेंदा) दिखाई नहीं पड़ता। आत्मा को देखने के लिए लालायित साधक को ऊपरी भाग में अनेक प्रकार से उमड़ने वाली मनोकामनायें रूपी तरंगों को शान्त करना चाहिए। इन तरंगों को

प्रशान्त करके स्थिरता पाने के लिए मन को उपयुक्त आहार विहार की आवश्यकता होती है। उसका आहार आध्यात्मिक चिन्तन है और उसे स्वच्छ करने की सामग्री ध्यान व साधना है। अगर ध्यान और साधना दोनों का अभाव है तो मानस को स्वच्छता व बल प्राप्त नहीं होता है। जिन लोगों में इन दोनों का अभाव है उनके लिये आत्मदर्शन दुष्कर है अशान्ति ही उन लोगों के हिस्से में पड़ती हैं।

●

प्रबोध-६

ध्यान ही बताता है कि संसार अनित्य है, माया है:—

इस सागर में अपना पथ भूल कर जब समस्त मानव जाति गलत रास्ते पर जा रही है तो उन लोगों को सही रास्ता बतलाने के लिये जो परम हितैषी आते हैं उनका उपहास करना और उनका अपमान करना न्याय सम्मत नहीं है। केवल इतना ही नहीं यह सत्यानाश का कारण भी है। प्रेम स्वरूप जो लोग सहायता करने के लिए आते हैं उनको अज्ञानता का शिकार बनाकर उन पवित्र आत्माओं के हृदय को हलाहल के रूप में परिवर्तित कर देना आजकल के लोगों की परिपाटी हो गई है। प्रेम और हलाहल का उत्पत्ति स्थान एक ही है देखो जिस सागर ने चन्द्रमा, अमृत व लक्ष्मी आदि रत्नों को जन्म दिया है उसी सागर ने संसार के लिये महान हानिकारक हलाहल विष को जन्म दिया है। ऐसे समय में मानव श्रीमन् नारायण की भांति रस ग्रहण पारंगत यदि नहीं है तो अमृत और लक्ष्मी इसको नहीं प्राप्त होती। शंकर सरीखे साहसी व्यक्तियों को केवल गरल ही

उपलब्ध होता है। इसीलिए सुख एवं दुखरूपी तरंगो से कल्लोलित इस संसार सागर को रस–ग्रहण–पारंगत लोग ही पार कर सकते हैं अन्य लोग इसमें डूब जाते हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों को जीतने की शक्ति किसी को भी जन्म जात नहीं होती है। उसके लिये भगवान के अनुग्रह रूपी सहायता का होना आवश्यक है। जप व ध्यान करने से ही साधक को भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है। यह बात बहुत अच्छी तरह से जान लेनी चाहिए कि प्रकृति को जिन लोगों ने अपने वश में कर लिया है जिसकी आज्ञा को पालन करने के लिए प्रकृति बाध्य है वही गुणों को जीत सकता है अन्य लोगों के लिये असम्भव है। इस दृश्यमान जगत के लिए प्रकृति ही आधार है। सृष्टि एवं स्थिति के लिए भी प्रकृति ही आधार है इस जगत में स्थिति नाम की वस्तु अगर कोई है तो वह केवल प्रकृति ही है। पुरुष और स्त्री, कीट-पतङ्ग पशु-पक्षी और वृक्ष अर्थात् इस जगत में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब प्रकृति का अभिन्न अङ्ग है। वास्तव में वह प्रकृति ही है। इस अनन्त प्रकृति में महान चैतन्य के रूप में जो परम पुरुष वर्तमान है—वह परमात्मा है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इस दृष्टिकोण को अनुभव द्वारा हृदयंगम करने व सुदृढ़ करने के लिये भी जप एवं ध्यान की साधना आवश्यक है। यह प्रकृति रूपी सागर अगर तनिक भी अपनी स्थिति का, अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है तो करोड़ों जीव-जन्तु ध्वस्त हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं। देखो महासागर यदि तनिक भी अपनी सीमा का उल्लंघन करता है तो उसमें चलने वाली नौकायें व जहाज घास के तिनके के बराबर हो जाते हैं। इसलिये तुम कभी इस महासागर में हलचल मचाने

का प्रयास मत करो। इस सागर में शान्ति एवं प्रसन्नता का रहना असम्भव है। इसलिये इस प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करने के लिये भगवान की अनुग्रह रूपी नौका पाने के लिए प्रार्थना करो। इस प्रकार से प्रार्थना करते रहने से कभी न कभी एक दिन उस पार पहुंच सकते हो।

इस संसार में जो भी दिखाई पड़ता है वह नित्य नहीं है, अशाश्वत है। आज वह वतमान है कल सम्भवत: वह नहीं रहेगा। इसलिये इस संसार में अगर किसी वस्तु के प्रति पूर्ण हृदय से आशा करके और प्रेम करके रहना चाहते हो तो केवल परमात्मा को ही चाहो, उसी के प्रति अपना प्रेम केन्द्रित करो। अगर ऐसा नहीं करते हो और स्त्री-पुरुष, धन ऐश्वर्य तथा समस्त सुखों के प्रति प्रेम करते हो, उनकी कामना करते हो, तो जब वे तुमसे बिछुड़ते हैं तो तुम्हारा हृदय कितना शिथिल हो जाता है, कितना शोक पूर्ण हो जाता है। तब तुम सोचने लगते हो कि क्या मैं इसी दु:ख के लिये ही इतना अधिक प्यार करता था? क्या मेरे साथ अन्याय नहीं किया जा रहा है? क्या मैंने अपने को धोखा तो नहीं दिया है? इस जगत की समस्त चीजें अस्थायी हैं कुछ समय तक ही रहती हैं। इसमें जो सुख दुख है वह भी अस्थायी है ऐसी क्षण भंगुर वस्तुओं के मोह में पड़ कर परम शाश्वत और परमोत्कृष्ट परमात्मा को विस्मरण कर देना मानव की भारी भूल है। मायातीत, निर्मल एवं निष्कलंक माधव को भूलकर माया और मलिनता के वश में होकर अपना अमूल्य समय व्यर्थ गंवाने से कोई लाभ नहीं है। केवल दुख ही उसको मिलता है। इस जगत में शाश्वत रूप से पूजने योग्य कोई वस्तु है ही नहीं। किसी से भी प्रेम

करो वह केवल कुछ समय के लिये ही होता है। सब चीजों को देने वाला और ले लेने वाला एक ही है। जब उसकी मर्जी होती है वापिस ले लेता है। पराई वस्तु को, पराई जायदाद को अपना मान लेना और फिर उसे जब छोड़ना पड़े तो उसके लिये दुखी होना कितनी मूर्खता है। सब कुछ परमात्मा का ही है। इस महानुभूति को अवश्य हृदयंगम कर लेना चाहिए। इसीलिये किसी को अधिक मत सोचो, अधिक प्यार मत करो, किसी वस्तु के बिछुड़ने से विरह मत करो। यह समस्त प्रेम, चिन्ता और विरह परमात्मा के प्रति करो। वही एक ऐसे हैं जो नित्य है शाश्वत है। वही शाश्वत आनन्द है। आदमी को आदमी के रूप में प्रेग करो। वस्तु को वस्तु के रूप में ही प्रेम करो। उससे अधिक प्रेम करके धोखे में मत पड़ो।

यह लोक अनन्त है, यह ठीक है, मगर मानव जिस प्रकार इसको शाश्वत मानता है यह भूल है। किराये के मकान को कितने समय तक तुम यह कल्पना कर सकते हो कि यह मेरा मकान है। कितने समय तक इस कल्पना से तुम सन्तुष्ट हो सकते हो ? किराये पर लेने की अवधि ही तक तुम उसे अपना मान सकते हो, अवधि समाप्त होने पर तुम्हें इसको छोड़ना ही होता है और तब वह दूसरे का हो जाता है। है न ? यदि ठीक प्रकार से विचार किया जाये तो स्त्री, बाल बच्चे, धन, ऐश्वर्य, रिश्तेदार, नातेदार शाश्वत रूप से तुम्हारे नहीं हैं केवल एक निश्चित समय तक के लिए ही वे तुम्हारे हैं। इसलिये इन अशाश्वत वस्तुओं से अधिक प्रेम व लगाव मानना मेरी समझ में नहीं आ रहा है। एक व्यक्ति भिखारी हो सकता है। एक व्यक्ति लखपति हो सकता

है। मनुष्य कितना भी लक्षाधिपति व करोड़पति क्यों न हो परन्तु पेट भर से अधिक भोजन करने की शक्ति उसमें कहां से आ सकती है। यात्री अन्धकार हो जाने पर विश्राम करने के लिये किसी सराय, धर्मशाला, होटल या अन्य स्थान पर ठहर जाता है। उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार के लिए यात्रा करने वाला जीवात्मा रूपी यात्री भी अविद्यारूपी अन्धकार छा जाने से इस जगतरूपी धर्मशाला में विश्रामहेतु ठहर गया है। सुबह होने तक यात्री उस धर्मशाला में रहता है। प्रातः-काल होते ही वह अपने गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थान करता है। इस जन्म में सम्पूर्ण रूप से विद्या में स्थित हो यात्रा को, इस जगत स्थिति को एक धर्मशाला के रूप में देखना अत्यन्त उपयुक्त है। जानवरों के मनुष्य से अधिक पैर होते हैं इस लिये चलने के लिए उनको पृथ्वी पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। दो पैर वाला मानव खड़ा होकर केवल दो पैर से चल सकता है। गोजर और उस प्रकार के रेंग कर चलने वाले जीवों को चलने के लिए पृथ्वी पर अधिक निर्भर होना पड़ता है। मानव दो पैर वाला होने से अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक चल सकता है। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि अधिक पैर होने से अधिक बन्धन में रहना पड़ता है। उदाहरण के लिये आदमी का जब विवाह हो जाता है तब उसके दो पांव और बढ़ जाते हैं। यदि हम कहें कि वह तब आदमी न रह कर चौपाया हो जाता है अर्थात् चार पैर वाला हो जाता है। बाल बच्चे, लड़के, बहू, लड़की, दामाद, नाती, पोते होने पर उनकी संख्या और अधिक हो जाती है। वह स्वतन्त्रता खो बैठता है। भूमि पर खजूरे के तरह रेंगता ही चल सकता है। भूमि पर अधिक निर्भर हो जाता है। शनैः शनैः वह शक्ति हीन हो जाता है। इस प्रकार की

अ-स्वतंत्रता, परतन्त्रता से वह भौतिक विषयों में डूब जाता है और ईश्वर अनुग्रह प्राप्त करने की न तो उसकी इच्छा रह जाती है न समय।

इहलोक बन्धन केवल कुछ काल तक ही रहता है। इस जन्म के पूर्व भी जीव ने इसी लोक में कई बार जन्म लिया होगा। जन्म लेकर अपना जीवन व्यतीत किया होगा। इन जन्मों में भी तुम इसी प्रकार के बन्धनों में डूबे रहते होंगे। अपने बन्धुओं से इसी प्रकार प्रेम और ममता पाते रहे होंगे। वह सब बन्धन ममता व वस्तुयें कहां चली गईं? क्या तुमको तनिक भी पता है कि वह लोग अब कहां हैं? क्या उनका पता ज्ञात है? क्या एक क्षण भी उन लोगों का ध्यान तुम करते हो? इस जन्म में इस माया और प्रवृति के प्रति इस समय जो अनुराग है वही पूर्व जन्मों में भी तुमने अनुभव किया होगा। समय व्यतीत हो जाने से जिस प्रकार उन लोगों को भूलते जाते हो उसी प्रकार इस बार भी जगत के छोड़ने के बाद आजकल के सम्बन्ध, रिश्तेदार, नातेदार, उनके सुख दुःख भूल जाना सम्भव है। जिस प्रकार खेल के मैदान में बच्चों के खेलने के स्थान अलग अलग होते हैं और वे बदलते रहते हैं उसी प्रकार मानव कर्म करने के स्थल भी इधर से उधर और उधर से कहीं और बदलते जाते हैं। मानव ऐसी चंचल और अस्थिर वस्तुओं से ही अमित प्यार करके शाश्वत सन्तोषप्रद सर्वेश्वर के प्रति प्रेम और उसके उपयुक्त साधनायें और प्रयास करना भूल जाता है। कितने दुख की बात है।

मानव निर्विराम चौबीस घण्टे सदैव प्रकृति के विषयों के बारे में सोचने विचारने में निमग्न रहता है। वास्तव में मानव का भार बहुत हो गया है। उसको और भार वहन करने के लिए आदेश दिया जावे तो परिणाम क्या होगा? मरण वेदना में पड़े व्यक्ति के कष्ट को दूर करने के बदले क्या कोई उसका गला घोंट देता है? मानव दुःख रूपी सागर में निवास करता है। ऐसे लोगों पर उस सागर में अधिक भयंकर तूफान उठाना क्या उचित होगा। इस लिए अशान्ति सागर में निमग्न लोगों पर तुम मन्द हास की दृष्टि करना सीख लो। स्वयं मुस्कराते रहो और दूसरों को भी मन्द-हास पूर्ण होना सिखाओ। वास्तव में यह संसार सन्तोष-विहीनता से भरा पड़ा है। स्वयं दुखी होकर, खूब रो धोकर निरुत्साही बनकर उस दुःख को बढ़ावा क्यों देते हो? ऐसे दुःख से निवृत होने के लिये जप और ध्यान करना प्रारम्भ करो। निज दुःख को हलका करो। सर्वेश्वर के सन्तोष सागर में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाओ।

रात्रि–विश्राम के लिये यात्री धर्मशाला में ठहरते हैं और आराम करने के पश्चात् अगली यात्रा करने के लिये तैयार हो जाते हैं। रात्रि में जो चीजें पराई हैं उनके वास्ते झगड़ा करना किस लिए? झगड़ा करने से विश्रान्ति नहीं मिलती है। आराम नहीं मिलता है, नींद भी नहीं लगती है और अगले दिवस यात्रा करने के लिये शक्ति भी नहीं रह जाती। इसलिए लोभ सम्बन्धी वस्तुओं को अत्यन्त प्यार करके उनके द्वारा महान दुःख यों ही मोल लेना निरी मूर्खता है। अनावश्यक चीजों में पड़कर अपने अमूल्य समय को बेकार मत खोओ। समय को परमात्मा के प्रति भक्ति एवं

चिन्तन के लिये समर्पण कर दो।

समस्त जीवी परमात्मा के नाटक-मण्डल में नाटक के पात्र भर ही तो हैं। अपना पार्ट—भाग—खेल करके सब चले जाते हैं। इस नाटक में कोई चोर का पार्ट, कोई राजा का पार्ट, कोई भिखारी का पार्ट, कोई विदूषक का पार्ट करता है उनका भेष धारण करता है। मगर इन सबका सूत्रधार तो एक ही है जो परमात्मा है। मगर यहां एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। सूत्रधार नाटक मण्डल के सामने आकर सबसे पार्ट नहीं कराता क्योंकि उससे नाटक की सुन्दरता नष्ट हो जावेगी। इसलिये वह परदे के अन्दर रह कर इस नाटक-पात्रों से उनका पार्ट कराता है उनसे आवश्यकतानुसार गाना गवाता है—बातचीत कराता है। पात्र जहां भूलते हैं उनको याद दिला देता है। इसी प्रकार भगवान भी इस प्रकृति रूपी नाटक मण्डल (स्टेज) में पार्ट करने वाले (पात्रधारी) समस्त जीवियों से उनके पार्ट परदे के अन्दर रहकर कराता है इसलिये मानव-जीवन में माया रूपी परदे के अन्दर हमारे जीवन के आधार मार्ग बतलाने वाला परमात्मा है। इस प्रकार भली भांति समझकर उसी की आज्ञा की प्रतीक्षा में जो जो काम हमसे होता है उसके लिये वही आधार है ऐसा विचारना चाहिए। अगर ऐसा नहीं करते हैं यानी इस जगत में जिस काम के लिये मानव आया है और उसका जो कर्त्तव्य है उसको भूलकर और यह भी भूल कर कि पर्दे के अन्दर जो सूत्रधार-परमेश्वर है—संसार नाट्यशाला में अपने मनमाना वर्ताव का पार्ट करता है तो दर्शक गण के लिये एक तमाशा बन जाता है। नाटक की सुन्दरता चली जाती है। इसलिये इस जगत-रूपी

नाट्यशाला में मानव रूपी नाटक-पात्र धारी को अपना पार्ट ठीक से खेलना चाहिए और पर्दे के अन्दर जो परमात्मा है उसको कदापि नहीं भूलना चाहिए और उसी की आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। इस प्रकार की सावधानी को प्रोत्साहन देने वाला ध्यान ही है।

प्रबोध-७

सर्व प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये नाम स्मरण और ध्यान साधन है।

कितने ही जटिल बन्धन में मानव जकड़ा क्यों न हो नाम-स्मरण से वह छुटकारा पा जाता है। सर्वेश्वर के जिस नाम का वह स्मरण करता है उसके स्वरूप में वह विलीन हो सकता है। ऐसी स्थिति पाने के लिये निर्विराम नाम स्मरण करना चाहिए। इस स्थिति के पाने में कोई सन्देह नहीं है। निश्चित रूप से पा सकता है। योग साधना, प्राणायाम साधना और तप साधना में पग पग पर संकट है। ये साधनायें कंटकाकीर्ण हैं किन्तु जप, ध्यान, नामस्मरण करने में इस प्रकार की विपत्तियां कभी नहीं आ सकतीं। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भिन्न भिन्न संप्रदाय व भिन्न भिन्न धर्मों में योग तपस्या तथा प्राणायाम के करने के भिन्न भिन्न मार्ग हो सकते हैं मगर नाम-स्मरण में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। जहाँ

तक धर्म का प्रश्न है ; हिन्दू मुस्लिम और ईसाइयों के बीच में बहुत कुछ फर्क हो सकता है मगर करुणानिधान परमात्मा के नाम-स्मरण करने में ऐसा भेद नहीं है। उसके नाम स्मरण करने के लिये सभी समान रूप से हकदार हैं। भिन्न भिन्न धर्मानुयायी उस एक ही परमात्मा को अपने अपने धर्मानुसार भिन्न भिन्न नाम से स्मरण करते हैं। ध्यान करते हैं और जप करते हैं। अपनी अपनी जाति व धर्म के अनुरूप जप–मालायें ग्रहण कर जप करते हैं। इसलिये प्रत्येक मानव के लिए इन तीन मार्गों (जप, ध्यान, स्मरण) के अतिरिक्त कोई चौथा मार्ग नित्य, सर्वजन–उपयोगी और पवित्र साधना का नहीं है।

परमात्मा और उसका नाम दोनों एक ही होने पर भी नाम-स्मरण में जो मधुरता है वह स्वरूप चिन्तन में मानव को कम दिखायी देती है। गुलाब का फूल ध्यान में आने से उसकी मधुर सुगन्ध, उसकी अत्यन्त कोमल पंखुड़ियां (पटल) और उसके हलके रंग एकदम याद आ जाते हैं। मगर उसके कांटे और उसके पत्तों के लिए कष्टप्रद-प्रयास ध्यान से लुप्त हो जाते हैं। इसके विपरीत पुष्प, उसकी उत्पत्ति उसका वृक्ष उसके पत्ते व उसके डंठल व कांटों का ध्यान करते हैं जो खराब हैं तो अत्यन्त आनन्द दायक पुष्प के बारे में विचारने के बदले उसके वेष के बारे में तर्क करने लगते हैं। दूसरा उदाहरण लो–आम का फल–यह नाम सुनते ही उसकी अनुपम मधुरता ध्यान में आ जाती है किन्तु यदि आम के फल को हाथ में ले लो तो यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि यह मीठा है या खट्टा ऐसी शंकायें उठने लगती हैं। ऐसे अप्रिय ध्यान हमें आनन्द नहीं देते हैं। जब

केवल आम का नाम ही लेते हैं तो उसका खट्टापन और गुठली आदि ध्यान में नहीं आते हैं। हमारे मानस में केवल उसकी मधुरता ही आती है। परमात्मा और उसके नाम में यही भेद है।

नाम में विशुद्ध मधुरता ही है किन्तु परमात्मा के स्वरूप-चिन्तन में भय-मिश्रित गौरव व यदा कदा भयभीत करने वाले लक्षण भी याद आते हैं। रूप की अपेक्षा नाम को ही क्यों चाहना चाहिए ? देखो ! नाम धन के द्वारा ही परमात्मा रूपी वस्तु को पा सकते हैं। इस जगत में किसी भी वस्तु को खरीदने के लिए धन प्रधान है। धन से हम किसी भी वस्तु को खरीद सकते हैं। जो वस्तु खरीदी जाती है उससे कई गुना महत्व धन का है। समस्त वस्तुयें धन के वश में हैं। हैं न ? धन के जरिए चाहे कोई भी वस्तु हो चाहे जब जी चाहे तभी हम खरीद सकते हैं। इसी प्रकार नाम रूपी धन को धीरे धीरे एकत्रित करने से परमात्मा को ध्यान मार्ग के द्वारा अत्यन्त सरलता से अति शीघ्र पा सकते हैं।

नाम स्मरण में एक और विशेषता है। उससे योग और तपस्या द्वारा प्राप्य सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं। इनके लालच में पड़कर भगवान को भूल जाने की भी आशंका रहती है। इतना ही नहीं मदान्ध होकर अपने समस्त साधना के फल को भी नष्ट कर देते हैं। नाम-जप ध्यान से ऐसा कभी नहीं होता है। उन लोगों को इस प्रकार के खतरे पैदा ही नहीं होते हैं। इन तीनों के द्वारा प्रेम अधिक बढ़ता है। इस प्रेम के द्वारा प्रशान्ति व प्रसन्नता भी प्राप्त

हो जाती है। प्रशान्ति मिल जाने पर सकल सुख अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। योग और तपस्या से असाधारण शक्तियाँ तथा नाम स्मरण, जप व ध्यान से विशुद्ध निर्मल प्रेम प्राप्त होता है। इन दोनों में यही भेद है।

इन दोनों में कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है। इसके सम्बन्ध में दूसरों से तर्क करना बेकार है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। जो लोग नाम-स्मरण जप व ध्यान नहीं करते वे जप ध्यान व नाम-स्मरण मार्ग के अनुयायियों को हेय दृष्टि से देखते हैं। वे नाम-स्मरण करने वालों को बहुत ही निम्न श्रेणी के साधक समझते हैं। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के विचार विनिमय से अनेक शंकायें उत्पन्न होने लगती हैं।

सन्तोष के बदले दुःख, प्रेम के बदले द्वेष बढ़ने लगते हैं। अतः तुम स्वयं इन दोनों मार्गों के बारे में सोच विचार कर पूर्ण रूप से अध्ययन करके अपना मार्ग स्वयं चुन लो या जो मार्ग तुमको अच्छा लगे उस पर चलो या जिन लोगों ने नाम-स्मरण की मधुरता का आस्वादन किया है उनसे सहायता ले सकते हो। नाम-स्मरण करते समय आनन्द प्राप्त करने के लिये भगवान के साकार रूप का ध्यान करो तब शान्ति मिल सकती है। केवल तर्क करके कि इन दोनों मार्गों में कौन सा श्रेष्ठ है–इस द्विविधा में पड़कर इधर उधर यदि भटकते हो तो खून पसीना एक करके जो साधना का फल तुमने प्राप्त किया है उसे एक क्षण में तुम खो दोगे जब तक तुम को समर्थता नहीं प्राप्त होती है तब तक प्रशान्ति के साथ एकान्त में या भक्त समूह में मिलकर उच्च स्वर से

भगवान का नाम स्मरण करो। तब किसी भी प्रकार का डर या सन्देह तुमको नहीं लगेगा। मछली को देखो। सर्व प्रथम वह अपने अंडों को छिछले पानी में देती है फिर जब छोटे छोटे बच्चे हो जाते हैं तो उनको अनन्त महासागर में ले जाती है। ऐसा महासागर जो क्रूर जलजन्तुओं से परिपूर्ण है। उसके बच्चे निर्भयता व स्वतंत्रता से धीरे धीरे बढ़ते हैं बड़े होते हैं। अगर मछली पहले ही सागर में अंडे देती तो अन्य छोटी छोटी मछलियां व जल जन्तु उनको खा लेते इसलिये सर्वप्रथम नाम जप व ध्यान अत्यन्त सावधानी व अनुशासन के साथ करना चाहिए। इसका हाल अन्य लोगों को नहीं बताना चाहिए। इसका भेद अन्य जन पर प्रकाशित मत करो।

आजकल कई लोग नाम-स्मरण त्याग कर योग प्राणायाम का मार्ग ले रहे हैं। ये साधनायें खतरे से खाली नहीं हैं। उचित प्रकार से नहीं करने से कष्टदायक हो सकती हैं। यदि उचित रीति से किया जाये तो उनसे प्राप्य फल को सुरक्षित रखना बहुत ही दुष्कर होता है। नदी तट पर जाल बिछाकर नदी में गोता लगाकर टटोलने से क्या मछलियां पकड़ी जा सकती हैं। जैसे इस विधि से मछलियां नहीं हाथ लगती हैं उसी प्रकार नाम स्मरण छोड़कर उसके प्रति विश्वास न करके केवल योग और तपस्या करने से कोई लाभ नहीं होता। अगर नाम-स्मरण का आश्रय लोगे तो आज न सही कल भगवान अवश्य ही मिल जायेंगे जब नाम जानते हैं तो उस वस्तु का पाना बहुत ही आसान है। यदि नाम नहीं मालूम है तो वह वस्तु यदि सामने भी हो तो उसको पहचान नहीं सकते। इसलिए नाम को अच्छी प्रकार

से, दृढ़ता से पकड़ कर नाम-स्मरण करो। नाम-स्मरण से प्रेम पैदा होता है। प्रेम के द्वारा ध्यान, सिद्धि और उसके द्वारा परमात्मा को पा सकते हो। जब तुम्हारे अन्तर में प्रबल प्रेम उत्पन्न होता है तब तुम प्रेम-स्वरूपी परमात्मा को पा लेते हो—वह तुम्हारे वश में हो जाता है। सभी साधनों से यह साधन अत्यन्त सुलभ है।

जब किसी देश में किसी एक प्रकार का रोग अधिकतर पाया जाता है तो उसी देश में ही उसकी औषधि भी अधिक मात्रा में मिलेगी। अन्य देशों में भी खोजने पर कदाचित् वह औषधि मिल जाय किन्तु फिर भी सर्वांगीण सुन्दर व उपयोगी नहीं मिलेगी। उसी प्रकार यह अमोघ औषधि इस कलियुग में मिल रही है क्योंकि—इसी युग में भूत, प्रेत, पिशाच रूपी अन्याय, अनाचार, असत्य, भ्रष्टाचार रूपी रोग अधिक पाये जाते हैं। इसीलिये शास्त्र दृढ़ता पूर्वक कह रहे हैं कि कलियुग में नाम-स्मरण के अतिरिक्त और कोई दवा है ही नहीं ; चारों युगों में से कलियुग इसी लिये अत्युत्तम है। कलियुग के लोगों को नाम-स्मरण, जप व ध्यान करना चाहिये क्योंकि इससे उनकी बुराईयां दूर हो जाती हैं। इन तीनों की सहायता से प्रकृति से रक्षा मिलती है, ये उसके लिये तावीज है। अतः योग यज्ञ, प्राणायाम इत्यादि अनेक प्रकार के प्रयास करने के बदले नाम-स्मरण जप, ध्यान करने से अत्यन्त लाभ प्राप्त होता है।

●

प्रबोध—८

ध्यान के लिए चित्त-एकाग्रता प्रधान है :—

कोई भी कार्य हो उसको पूर्ण करने के लिये चित्त-एकाग्रता नितान्त आवश्यक है। यह सोचना गलत है कि लौकिक (साँसारिक) उन्नति के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है परिमार्थिक सफलता के लिये उनसे भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। व्यावहारिक शुद्धता ही परमार्थिक उन्नति है। उसकी सफलता या विफलता दोनों एकाग्रता पर निर्भर हैं। यह एकाग्रता भी एक साधन है अर्थात् जप व ध्यान करना एकाग्रता के ऊपर निर्भर है। ये साधनायें दो प्रकार की होती हैं—१. शून्यावस्था २. अनेकाग्रता। शून्यावस्था का अर्थ है निद्रा। इसी को तमोगुण कहते हैं। अनेकाग्रता अर्थात् रजोगुण—भगवान की सृष्टि में जो भिन्न भिन्न दृश्य दिखाई पड़ते हैं उनके प्रति आकर्षित होना अपनी सारी शक्ति लगाना। इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं को छोड़कर मध्यम मार्ग से अर्थात् नेत्र न पूर्णतः बन्द हों न न पूर्णतः खुले हों—अर्द्धनिमीलित नेत्रों से नासाग्र पर दृष्टि रखनी चाहिए तभी वह सतोगुणी स्वभाव का होता है।

तभी चित्त-एकाग्रता सरलता से प्राप्त होती है। केवल नासाग्र पर अपनी दृष्टि लगाने मात्र से कोई सतगुणी नहीं होता है। प्रारम्भ में इस प्रकार से धीरे धीरे अभ्यास करके फिर जिस नाम का स्मरण करते हो उस स्वरूप पर दृष्टि लगानी चाहिए। इसी को ध्यान कहते हैं।

पहले पहल जब जप ध्यान करते हो तो अगर नाना प्रकार की भावनायें व विचार मानस में उठें तो तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए। उनसे कोई भय नहीं है। नाम-स्मरण प्रारम्भ करते समय महान उत्साह के साथ बैठो। दृढ़ संकल्प के साथ जो भी काम करते हो तो किसी प्रकार की अपवित्रता या विघ्न बाधा तुम्हारे निकट नहीं आ सकती। जप ध्यान करते समय तुम अपने को निर्मल बनाओ। इस सम्बन्ध में जो भी विधान हैं जो भी पद्धतियां हैं उनके बारे में अधिक विचार मत करो। जो नाम तुमको अधिक रुचिकर है उसी को जपो ! जो रूप तुमको आनन्ददायक है उसी का ध्यान करो। नाम ही मन्त्र है—वह सर्वदा तुम्हारी पहुंच में रहता है। वही सब कुछ है। किन्तु ऐसा न करो कि आज एक नाम जपो और कल को दूसरा नाम। इस प्रकार नाम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। जो नाम तुम्हें पहले तृप्ति देता है उसी की ठीक प्रकार से साधना करो। वही हृदय में प्रतिष्ठित हो जावेगा। बाद में वही सब कुछ प्रदान करेगा। माली जब किसी मज़दूर को जमीन खोदने के लिये कहता हैं तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह बराबर खोदता रहे। माली जानता है कि किस पेड़ के लिये कितना गड़हा होना चाहिए, किस पेड़ को कितनी मिट्टी देनी चाहिए। इसी प्रकार नाम-स्मरण, स्वरूप-ध्यान करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। जिस प्रकार मट्टी खोदने वाला जहां तुम कहते हो मट्टी

खोद कर डालता है उसी प्रकार नाम-स्मरण करने पर भगवान जहाँ चाहेंगे जिस प्रकार चाहेंगे वहीं प्रबन्ध करेंगे।

मानस को प्रशिक्षित करने में नाम और स्वरूप दोनों का महत्व अधिक है। सीखे-सिखाये घोड़ों को सिखाने की क्या आवश्यकता है। बिना सिखाए को सिखाते हैं। उसी प्रकार चंचल मन को वश में रखने के लिये ही प्रार्थना, भजन, जप तथा नाम–स्मरण इनका प्रबन्ध किया गया है। पहले पहल सिखाने में घोड़ा इधर उधर बहुत भागता है। सिखाने वाला उसकी कोई परवाह नहीं करता है। वह घोड़े की लगाम अपने हाथ में मजबूती से रखता है। इसी प्रकार नाम–स्मरण व स्वरूप ध्यान करते समय मानस रूपी घोड़े का अनेक दिशाओं में भागना स्वाभाविक है। उसको देखकर तुमको कभी भी निरुत्साही दुखी और विरक्त नहीं होना चाहिए। नाम–स्मरण रूपी लगाम को दृढ़ता के साथ पकड़ो। कुछ समय के पश्चात तुम्हारा मानस और नाना प्रकार के विकार तुम्हारे आधीन हो जायेंगे। श्री हरि–नाम स्मरण को भुलाने वाली कोई भी चीज अपने पास मत आने दो। इस नाम-स्मरण का जो फल मिलता है धीरे धीरे वह तुम्हें स्वयं ही ज्ञान हो जावेगा।

जब पेड़ लगाते हैं तो तुरन्त उसके फल की आशा करना व्यर्थ है। फल के स्वाद को जानने के लिए पेड़ के पत्ते और छिलके नहीं खाना चाहिए। इस विधि से फल की मधुरता का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार नाम–स्मरण रूपी पेड़ को पालना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। क्या मैं नाम–स्मरण ठीक प्रकार से कर रहा हूं? क्या नाम–स्मरण की

इतनी महिमा है ? इस प्रकार के कुतर्क मत करो। उसकी महिमा की परीक्षा करने के लिए प्रयास मत करो। उसकी महिमा में कभी शंका मत करो। नाम–रूपी वृक्ष पूर्णता को प्राप्त करके जिन फलों की आशा करते हो उन फलों को वह तुम्हें अवश्य खिलायेगा। तुम भी साधना करके परमे–श्वर को प्राप्त कर सकते हो। ऐसे फ़ल को जमीन पर न गिरने देने के लिये जाल नाम-स्मरण है। इस लिए नाम स्मरण को कदापि न बदल कर उसके स्वरूप को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। यही एकाग्रता है। नाम स्मरण रूपी जाल में किसी प्रकार का छेद नहीं होना चाहिए। अगर कुछ नहीं प्राप्त होता है तो जाल फिर बिछाओ–अर्थात निर्विरामरूप से हर अवस्था में नाम-स्मरण करना चाहिये। अगर इस जाल के छिद्र काफी बड़े हैं तो परमात्मा रूपी फल जाल के फैलने के वाद भी खिसक जायगा। तुमको तब तक ध्यान करना चाहिए जब तक कि तुम्हारा मानस तुम्हारी आधीनता से निकल कर परमात्मा की आधीनता में नहीं चला जाता। यही तुम्हारा पहला कर्त्तव्य है।

मानस चाहे किसी भी दिशा में भागे तुम उसके पीछे मत जाओ उनके पीछे मत पड़ो। यह जानने का भी प्रयास मत करो कि वह कहाँ जा रहा है। जहां तुम पहले थे वहीं डटे रहो। मानस यथाशक्ति इधर उधर घूम कर अन्त में थककर तुम्हारे पास आ जावेगा। मानस एक अबोध शिशु सरीखा है। जब माता भागते हुए शिशु को बुलाती है, पुकारती है तो जितना भी अधिक वह उसे बुलाती है उतना ही अधिक दूर वह भागता जाता है। जब माता अपने शिशु की ओर से ध्यान हटा कर वापस लौटती है तो शिशु भी

अपने आप भाग कर मां के पास वापस चला आता है। नियमानुसार तुम अपने इष्ट नाम का जप व स्वरूप का ध्यान करो। मानस की चिन्ता मत करो। तुम्हें ध्यान में एकाग्रता अवश्य प्राप्त होगी तुम्हारा मनोरथ भी पूरा होगा। तुम अपनी ध्यान साधना में पवित्रता और अपवित्रता, शुद्धता और अशुद्धता का विचार ही मत आने दो। इस दुनियाँ में अशुद्ध पदार्थ कोई नहीं है। सर्वव्यापी, सर्वान्तरयामी परमात्मा जब सब में स्थित हैं तो अशुद्धता, अपवित्रता कहां से आ गई? बाह्य दृश्य और बहिर्मुखी अनुभव में अशुद्धता, अपवित्रता हो सकती है किन्तु परमात्मा का नाम लेनें से ही वह शुद्ध हो जाता है।

देखो! मलमूत्र विसर्जन के समय उस स्थान के पास यदि खजाना था हीरा दिखाई पड़े तो क्या कोई उसके लेने में संकोच करेगा? पवित्रता और अपवित्रता, शुद्धता और अशुद्धता का विचार केवल मानस के संचालन के ही कारण हैं। अगर किसी को धन देना चाहते हो उसके लिये शुभ दिन और शुभ मुहूर्त चाहिए। धन लेनें व देनें में इस भिन्नता का कारण क्या है? मानस ही है न? उस बिन धन प्राप्ति के लिए जो मोह है इस लिए शुद्ध और शुभ मुहूर्त की आवश्यकता नहीं होती किन्तु आज जब अपना धन देना है तो अप्रिय कार्य होने के कारण शुभ दिन शुभ मुहूर्त व पवित्रता की आवश्यकता पड़ गयी। इसी प्रकार परमात्मा के नाम के प्रति सम्पूर्ण विश्वास और प्रेम जब होता है तब शुद्धता और अशुद्धता, पवित्रता और अवित्रता आदि का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब तुम्हारे अन्दर आलस्य है, काम करने की इच्छा नहीं है तो तुम बहाना खोजते हो। अतः

ऐसी भावनायें छोड़कर नाम और उसके स्वरूप को सदैव अत्यन्त पवित्रता ही मानना चाहिए। ऐसी दृढ़ता के साथ साधना करनी चाहिए। भगवान नाम से सब कुछ पवित्र हो जाता है ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ साधना करो।

भगवान के प्रति अनन्य प्रेम रखना चाहिये। इसमें अपरिमित शक्तियाँ हैं। लोहे की शृंखलाओं को सुगमता से तोड़ सकते हैं किन्तु संसार की कोई भी शक्ति भगवान से लगी प्रेम डोर को तोड़ नहीं सकती। क्रूर से क्रूर हिंसक पशु भी प्रेम से जीता जा सकता है। इसी को दैव माया कहते हैं। इस प्रेम प्रवाह को बीच में पड़ने वाले किसी भी तालाव की ओर झुकाकर परमात्मा के अनुग्रह रूपी सागर की ओर झुकाते हैं तो यह जगत कितना पुण्य स्थल बन जाता है। इस प्रकार झुकाने से जीवी कितना धन्य हो जाता है। यही सर्वोत्तम मोक्ष है। इस प्रेम को निर्विराम रूप से भगवान के नाम व रूप में निमग्न रखना ही ध्यान है। इस अनित्य निवास स्थान के भ्रम में पड़कर अपने नित्य निवास स्थान को भूलो मत। धोखे में मत पड़ो। चार दिन के सुख को देखकर इसमें डूबो मत। नित्य सत्य शाश्वत परमात्मा को प्राप्त करने के लिए योजनायें बनाते हुए उसी में संलग्न रहना चाहिए। क्षणिक और अस्थायी भौतिक हानियों को देखकर विचलित मत हो इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो नष्ट नहीं होता। प्रत्येक वस्तु आज नहीं तो कल अवश्य ही नष्ट हो जावेगी।

इस जगत से तुम्हारा चार दिन का सम्बन्ध है, परमात्मा से तुम्हारा सदैव का सम्बन्ध है। इस अस्थायी

सम्बन्ध के कारण परमात्मा को भूल जाना अन्याय है। बन्धु बान्धव, स्त्री पुत्र केवल श्मशान तक साथ देते हैं मगर तुम्हारा सदैव साथ देने वाला, साथ रहनेवाला, आपद्बांधव और तुमको कभी न भूलने वाला तुम्हारा परम हितैषी केवल परमात्मा ही है। तुम्हारे पूर्व जन्मों में न जाने तुम्हारी कितनी मातायें हुईं, न जाने कितने पिता हुए, न जाने कितनी पत्नियाँ हुईं, कितने पति हुए, कितने पुत्र, मित्र और शत्रु हुए। तुमको क्या पता है ? क्या वे पूर्व जन्मों के संबंध चिरस्थायी हैं। इन पूर्व जन्मों के बन्धु बान्धव की याद तुम्हें क्या आती है ? मगर दोनों ही का आधार केवल परमात्मा ही है, तुम कितने भी जन्म ग्रहण करो मगर परमात्मा कदापि नहीं बदलता है। वह नित्य है। जन्म जन्मातरों में तुम्हारी देखभाल वह करता ही रहता है। ऐसे परम पवित्र नित्य परमात्मा को भूल जाने से अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है ? जब तुम्हारी इन्द्रियां थक जाती हैं, अपने कार्य करना बन्द कर देती हैं, एक ओर तुम्हारे बन्धु बांधव माता पिता बाल बच्चे सिर पीट कर रो रहे हैं और दूसरी ओर यमदूत तुमको मजबूर कर देते हैं कि प्रस्थान के लिये तैयार हो जाओ। ऐसी परिस्थिति कब आयेगी ? किसको ज्ञात है ? इस लिये उसके आने से पहले ही परमात्मा-चिन्तन रूपी सम्पूर्ण तैयारी कर लेनी चाहिए। जिससे उसका डट कर मुकाबला किया जा सके।

●

प्रबोध–६

ध्यान और जप ही सत्व गुण सम्पत्ति हैं ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की तीन दशायें होती हैं । पहली दशा अस्पष्ट रूप से होती है । दूसरी मध्य दशा स्पष्टास्पष्ट रूप से होती है । तीसरी दशा अत्यन्त उत्तम दशा है । ये ही है तमोदशा, रजोदशा, और सत्वदशा । यदि मानव पहली अस्पष्ट दशा से दूसरी मध्य दशा स्पष्टास्पष्ट में सहज रूप से क्रमशः अभिवृद्धि नहीं पाता है तो यह स्पष्ट रूप से समझ लेना लेना चाहिए कि इसमें कुछ अस्वाभाविकता है ।

शैशावस्था से लेकर यौवनावस्था पर्यन्त तक का जो जीवन काल है वह नगण्य है ; उसके बारे में अधिक सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है । यौवनारम्भ से उसकी प्रथम दशा अर्थात अस्पष्ट दशा प्रारम्भ होती है और अनेक प्रकार के निष्फल दायक काम कराती है । इसके पश्चात मानव शक्तिशाली परिपक्वावस्था में प्रवेश करता है । यह स्थिति अस्पष्ट दशा और उत्तम दशा के बीच की होती है ।

इसी अवस्था में उत्तम दशा प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। वास्तव में तपस्या के नियमों में भी यही धर्म सूचित किया गया है। पहले शक्ति (भौतिक) के प्रति पूजायें की जाती हैं, मध्य में शिव (आत्मज्ञान) के प्रति पूजा की जाती है। माता के संरक्षण (प्रकृति ज्ञानावस्था) में रहने वाला समय व्यतीत हो गया है। लोकोद्धारक शिव की शरण लेने का समय आ गया है। शरीर और मानस को मलिन करने का समय अब नहीं है।

इस अवस्था में मानव में कुछ स्वाभाविक दुर्गुण और दुर्व्यसन होते हैं। वे हैं, घमण्ड, हठधर्मी, बुरा भला विचारने की शक्ति, काम, कामना, लज्जा, भय द्वेष, असहिष्णुता। जब तक ये दुर्गुण वर्तमान हैं शिव की शरणागति प्राप्त नहीं हो सकती। इन दुर्गुणों को सम्पूर्ण रूप से समाप्त कर देना चाहिए। दूर कर देना चाहिए। क्रमशः दूर करने के लिये प्रयत्न करना चहिए। ऐसे साधकों की दशा प्रवाह के विरुद्ध तैरने वालों के समान है। इसी को कहते हैं—व्यतिरेक प्रवाह-गति—प्रवाह के विरुद्ध तैर करके ही उद्‌गम स्थान पर पहुँचा जा सकता है। धारा के साथ तैरने में तो उद्‌गम स्थान (क्षेम स्थान) से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं। इतना ही नहीं इस तरह से क्षण भर के लिये भी विश्रान्ति नहीं मिलती और गन्तव्य स्थान तक पहुँच भी नहीं सकते।

धारा के विरुद्ध तैरना कठिन तो अवश्य है। किन्तु क्रमशः गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर होते रहते हैं उससे दूर नहीं आते। इसके निमित्त (तैरने के) ध्यान, तुम्बी (सहायता) सरीखा है। ध्यान से दैहिक असमर्थतायें दूर

होती जाती हैं मानव की धारा धीरे-धीरे शक्तिशाली होती जाती है। मानसिक चंचलता दूर होती जाती हैं। जीव जब शान्ति प्रसन्नतापूर्वक अनुग्रह रूपी प्रवाह के विरुद्ध तैरता जाता है तो अनुग्रह का जन्म स्थान परमेश्वर को पा लेता है। प्रवाह के साथ तैरने वालों पर जो भगवान से दूर होते जाते हैं भगवान का अनुग्रह कम होता जाता है और अनन्त दु:ख में वह लोग डूब जाते हैं। इस लिए भगवान प्रथम लक्ष्य है और उसका अनुग्रह द्वितीय लक्ष्य है। इतना ही नहीं आदि शक्ति क्रमशः स्पष्ट होती जाती है और अन्त में अन्तर्ध्यान हो जाती है। ऐसे लोगों को मुक्ति मार्ग दुर्लभ हो जाता है। केवल कष्ट ही कष्ट उनको उपलब्ध होता है और दिन प्रति दिन कष्ट सागर में डूबते जाते हैं। इससे क्या लाभ ?

ऐसी दुर्वस्था के लिए उपरोक्त दुर्गुण ही कारण हैं। ऐसे दुर्गुणों को दूर करने से ही उद्गम स्थान निश्चित रूप से प्राप्त होता है। अगर ऐसा प्रयास नहीं करते हैं तो अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पर भी किंचित मात्र लाभ नहीं है। इस जगत में सभी सद्गुणी प्राणियों से भी प्यार करते हैं।दुर्गुणी व्यक्ति से सभी लोग दूर भागते हैं। वाह्य सौन्दर्य को देख कर पशु प्रेम करते हैं और व्यामोह करते हैं। सद्गुणी को देख कर भगवान (सर्वेश्वर) प्रेम करता है सन्तुष्ट होता है। प्रसन्न होता है। इस जगत के तुच्छ व अस्थिर प्रेम के वशीभूत मत हो जाओ। परम पवित्र परमात्मा की दया और प्रेम के लिए तरसना चाहिए। लोगों का प्रेम क्षण क्षण में बदलता जाता है तुम्हारे प्रति उनका प्रेम उनके स्वार्थ पर आधारित रहता है। भगवत् प्रेम केवल सद्गुणों पर ही निर्भर रहता है। इतना ही नहीं वह अत्यन्त सुस्थिर व आनन्दप्रद होता है। जो लोग वाह्य अच्छाई पर ही लट्टू

होते हैं वे वारम्बार विपद मोल लेते हैं। मानव का वास्तविक सौन्दर्य सद्‌गुण ही है। इस सौन्दर्य से अधिक सुन्दर कोई और सौन्दर्य नहीं है।

सद्‌गुणी को चाहिए कि इस जगत में यदि कोई पाप करता है, बूरा कार्य करता है तो उसके बारे में बहस नहीं करें क्योंकि इस चिंतन में यदि तुम भाग लेते हो तो उस पाप का कुछ भाग तुमको अवश्य मिलेगा। काजल की कोठरी में कैसा भी सयाना क्यों न जाये उसको भी कहीं न कहीं काजल की लीक लग ही जाती है। ध्रुव और प्रहलाद को कथायें सुनने से पुण्य प्राप्त होता है और पथ प्रदर्शन भी होता है। सती सावित्री, सती अनुसूया की पवित्र कथायें सुनने से पाप भस्म हो जाते हैं और तुम भी सद्‌गुणी हो सकते हो। इसका कारण क्या है ? ये सभी परम पवित्र हैं और उनका जीवन निष्कलंक है। इसी लिये उनकी पवित्र कथायें श्रवण, मनन और चिंतन करने से तुम भी सत्कार्य करने लगते हो। यही कारण है। उन लोगों में सद्‌गुण क्यों आश्रय लेते हैं। उसका उत्तर भी यही है। गुणवानों की निन्दा करने वाले कहते हैं कि उनको निन्दा करके हम उनको अधिक पवित्र बनाते हैं। ऐसा कुछ वह मनुष्य कहते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। उनकी निन्दा करके तुम उनके पापों को स्वयं ग्रहण करते हो। इस प्रकार से गुणवानों की निन्दा करने वाले पापी हो जाते हैं और सद्‌गुणी पाप रहित होते हैं क्योंकि वे दूसरों की निन्दा कभी नहीं करते। दूसरों की बुराई के वारे में कभी नहीं विचारते।

कभी दूसरों की निन्दा मत करो। उनकी बुराई के

विषय में मत सोचो। अगर कर सको तो पापियों को भी सत्पथ पर ले जाओ। उनके सामने सत्कर्म करके उनका पथ प्रदर्शन करो और सदैव अच्छी अच्छी बातों की शिक्षा दो। इस स्थिति के लिये प्रसन्नता, दया और सर्व जन हितकांक्षा मानव में उत्पन्न होनी चाहिए।

जप और ध्यान से ही ऐसी सद्‌गुण सम्पत्ति प्राप्त होती है। सद्‌गुण सम्पत्ति जप व ध्यान का परिणाम है, फल है। जप और ध्यान से न केवल वाह्य स्वच्छता होती है वल्कि अन्तर्मुखी स्वच्छता भी होती है।

सागर के ऊपरी सतह में तरंगे उठती हैं। इन तरंगों को उत्पन्न करने वाली वायु है। इस लिये तरंगों को उत्पन्न करने की शक्ति जिस प्रकार वायु में है उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष के मानस में अनेक प्रकार की भावनायें और विचार रहते हैं किन्तु उनको व्यक्त करने की शक्ति नहीं रहती। उचित वातावरण प्राप्त होते ही ये भावनायें और विचार दूध के उफान की तरह से उठने लगते हैं।

इसी प्रकार पूजा करने वाली मूर्ति या चित्र में प्रभु का व्यक्त होना क्या चित्र या मूर्ति की विशेषता है ? नहीं। चित्र चित्र ही रहता है। मूर्ति मूर्ति ही रहती है। भक्त के विश्वास शक्ति की प्रचण्डता से विवश हो कर परमात्मा को भी व्यक्त होना पड़ता है। माध्यम जो कुछ भी हो–कागज, पत्थर, धातु इत्यादि। भक्त के विश्वास और भक्ति के अनुरूप भगवान उसी माध्यम में उसी विग्रह को धारण करता है। प्रहलाद के निमित्त भगवान खम्भे से प्रकट हुए। बेमना (आन्ध्रप्रदेश के महान सन्त कवि) के निमित्त शिला में

प्रकट हुए। मार्कण्डेय के निमित्त शिवलिंग में दर्शन दिये। भक्त का मनोरथपूर्ण करने के लिये विश्वाधार परमात्मा किसी भी प्रकार से कहीं भी प्रकट हो सकता है। केवल एकाग्रचित से उसकी प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसी एकाग्रता केवल सत्वगुण से ही प्राप्त हो सकती है और इस सत्वगुण की जननी उत्पन्न करने वाली शक्ति ध्यान है। इसलिये मानव को पहले इन सद्गुणों को अपने जीवन में उतारना चाहिए। इसके लिए सतसंग करना चाहिए। ऐसा सतसंग जहाँ परमात्मा के प्रति, सत्य के प्रति परोपकार के प्रति, सर्वजन समान प्रेम के प्रति दृढ़ संकल्प हों। उन्हीं की चर्चा करते हैं। ये ही लोग तुम्हारे सच्चे मित्र हैं। ऐसे ही लोगों को साधु की संज्ञा दी जा सकती है। क्योंकि वे ही वास्तविक साधु हैं।

जो लोग भगवान की चर्चा किंचित मात्र भी नहीं करते, ऐसा करने के लिए प्रोत्साहन भी नहीं देते और इसके विपरीत सांसारिक बन्धनों को दृढ़ करने के लिए असत्य अन्याय व अहित को प्रोत्साहन देते हुए धर्म मार्ग से तुमको विचलित करने के लिए परिश्रम शील हैं ; वे तुम्हारे सच्चे मित्र नहीं हैं। ऐसे लोगों का साथ तुमको कभी भी नहीं करना चाहिए। ऐसे दुर्गुण युक्त व्यक्तियों का संग दुस्संग कहलाता है। ऐसे लोगों का साथ करने से मानव को विवश होकर गलतियाँ करनी पड़ती हैं, असत्य भाषण और अशोभनीय कार्य करते हुए वह पतन की ओर बढ़ता है। जिनको पाप से डर नहीं है, भगवान का भय नहीं है वह वड़े से बड़ा जघन्य कर्म करता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिनमें पाप का भय है, जिन्हें ईश्वर का भय है उन्हीं का संग

सत्संग है। जिनमें ये दोनों गुण किंचित भी नहीं हैं उनका संग दुस्संग है। अतएव साधक को सत्संग के लिए लालायित रहना चाहिए। इस प्रकार से करने से उसकी इच्छा शक्ति ही उसको सत्संग उपलब्ध करा सकती है और सब कुछ दिला सकती है। प्राप्य हो या अलभ्य हो सत्संग की ही चाहना सदैव करनी चाहिए और उसको प्राप्त करना ही चाहिए। शाश्वत आनन्द के लिए कामना करो और उसको प्राप्त भी करो, मगर अशाश्वत क्षणिक आनन्द के लिये मन चलायमान मत करो।

सच्चे साधकों को लौकिक विषयों में समय व्यतीत करने वालों के साथ से कोई भी लाभ नहीं प्राप्त हो सकता है। ऊपर जो मैंने बताया है उस प्रकार के गुण सम्पन्न मित्र यदि तुम्हारे पास नहीं है तो कोई बात नहीं तुम अकेले ही साधना करो। दु:संगत के बारे में कभी भी सोचना ही नहीं चाहिए। जब आवश्यकता होती है तब वह (दुष्टलोग) तुम्हारे आधीन हो जाते हैं तब तुम उन लोगों को समझा सकते हो, मगर उनके उपदेश में कभी मत फंसो। उनकी बात को कभी महत्व मत दो। कभी उनके संग में रहने को इच्छा भी मत करो। जब तुम में इस प्रकार के सद्गुण आ जाते हैं तब ध्यान व जप साधना सुगम हो जाती है।



प्रबोध—१०

ध्यान में सहायक—निष्कपटता, निर्मलता, सरलता

जीवनमुक्त लोग घनान्धकार में नाविकों के लिए सागर में पथ प्रदर्शक प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। आध्यात्मिक सत्यतायें अन्धकार में डूबे हुए पथ भ्रष्ट लोगों को प्रकाश-खम्भ की तरह पथ प्रदर्शक हैं। समस्त व्यक्ति भगवान से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे एक बड़े सरोवर में नाना प्रकार की मछलियां और अनेक प्रकार के जलजन्तु इधर उधर घूमते फिरते हैं उसी प्रकार यह समस्त मानव सृष्टि परमात्मा रूपी सागर में इधर उधर घूमते फिरते हैं। यह दृश्य अत्यन्त भयंकर है। कुछ अविकसित कुछ अर्धविकसित जीवी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये इधर उधर घूमते रहते हैं। इसी अज्ञानी मानव संघ में कुछ इने गिने सम्यक रूप से परिपक्व, विकसित जीवनमुक्त ज्ञानी और योगी भी रहते हैं। ऐसे लोग चूंकि अज्ञानियों में मिले हुए हैं इसलिये कौन ज्ञानी है, कौन अज्ञानी है यह जानना बहुत कठिन है। रक्त में वर्तमान लाल देहाणुओं को देखने के लिये अणुवेक्षक यन्त्र (खुर्दवीन)

की आवश्यकता होती है। इसलिये ऐसे जीवन्मुक्तों को देखने के लिए ध्यान रूपी अणुवीक्षक यन्त्र की आवश्यकता हं।

इस सृष्टि की विशेषतायें और चमत्कार अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं। किन्तु आजकल के प्रकृति के वातावरण से यह ज्ञात होता है कि प्रकाश दिखाने वाले बहुत कम हैं। इस लिये बेकार लोगों का आश्रय लेकर इधर उधर भटकने के बदले परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण विश्वास निश्छल प्रम रखकर, माता पिता, गुरु, पथ प्रदर्शक, अपना सर्वस्व भगवान में ही देखते हुए भगवान का आश्रय लेना चाहिये जिससे पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना ही न रहे। भगवान कभी भी गलत रास्ता नहीं दिखाते ऐसी पवित्र भावना में दृढ़ता और अनुभव पैदा करने के लिये एक मात्र रास्ता ध्यान की है। प्रेम और विश्वास के साथ इष्ट देव का नाम-स्मरण और स्वरूप ध्यान करना पर्याप्त है। जो नाम व स्वरूप तुमको रुचिकर लगे उसी का जप व ध्यान करो।

आध्यात्मिक अनुशासन के लिये तुम्हें सदैव प्रसन्न रहने का अभ्यास डालना चाहिए। सदैव प्रसन्नता प्रकट करने वाला मन्दहास (मुस्कान) चेहरे पर रहना चाहिए। यही मानव को अत्यन्त श्रयोदायक है। जनता भी तब तुमसे प्रेम करने लगेगी। तब परमात्मा भी तुमसे प्रसन्न होगा निर्मल स्वभाव से नम्रतापूर्वक छलहीन होकर ध्यान—साधना करो तभी तुम्हारी मनोकामनायें पूर्ण होंगी। कभी भी उत्तेजित न हो कैसी भी परिस्थिति हो सन्तुलन न. खोओ। हिम्मत कभी न हारो। दूसरों का सदैव सत्कार करो चाहे उनकी स्थिति कुछ भी क्यों न हो। इस प्रकार चलने से तम्हारे

हृदय में सर्व-जन-समान प्रेम का भाव उत्पन्न होगा। उसकी बुद्धि होगी। परिणाम होगा कि ध्यान साधना में बिना किसी विघ्न बाधा के उत्तरोत्तर वृद्धि होगी।

बिना औषधि प्रयोग रोग को दूर करने का एक मात्र उपाय ध्यान—साधना है। इससे रोग के निदान (पहचान) की शक्ति बढ़ती है। इस की शक्ति से कैसा भी कठिन रोग क्यों न हो दूर किया जा सकता है।

मानव के प्रत्येक वाक्य से दो अर्थ प्रकट होते हैं—साधारण अर्थ और लक्षणावृत्ति-उपनिषदों में लक्षणावृत्ति का महत्व है। वेद स्वरूप का अर्थ वेदों का आकार नहीं लक्षणा-वृत्ति है यही परब्रह्म परमात्मा को बतलाती है। अत्यन्त सावधानी से याद रखने की बात है कि बाक् शक्ति का प्रयोग अत्यन्त मृदु मधुर वाणी में करना चाहिए। सर्वभूतान्तर परमात्मा का सबमें दर्शन करने के लिये वाणी की मधुरता बड़ी सहायता करती है। श्रीमान, महोदय, महाशय, स्वामी आदि शब्दों का प्रयोग करने से उस व्यक्ति का तुम्हारे प्रति विश्वास और प्रेम पैदा होता है। उसके हृदय में आनन्द और उल्लास भर जाता है। तुम्हें स्वयं ही कितनी प्रसन्नता होती है। ऐसे आनन्द के साथ जब ध्यान करोगे तो एकाग्रता अति शीघ्र ही प्राप्त हो जावेगी।

इसके विपरीत यदि तुम दूसरों की निन्दा करोगे तो दूसरे भी तुम्हारी निन्दा करेंगे और तब तुम्हारा मानस अशान्त हो जाता है। मानसिक अशान्ति के कारण तुम ध्यान भी ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। इसलिए ध्यान में आनन्द प्राप्त करने के लिए आवश्वक है कि दूसरों से

आनन्द-दायक वार्तालाप किया जावे या आनन्द दायक विचारों का मनन और चिन्तन किया जावे। मृदु-मधुर वार्तालाप भी ध्यान साधनों में बहुत कुछ सहायता कर सकता है। मानव को ऐसा स्वभाव युक्त होने के लिये प्रयास करना चाहिए। मानव शरीर त्यागने पर भी उसका स्वभाव इस जगत में जीवित रहता है। मानव का अच्छा वर्ताव ही उसको कीर्ति और बल प्रदान करता है। उसके सद्गुण ही उसकी शक्ति हैं। अपनी सारी शक्ति और सद्गुण भगवत् साक्षात्कार पाने के लिये ही लगाओ। इसके लिये अथक परिश्रम करो। अपने लक्ष्य प्राप्ति में दृढ़ता से तत्पर रहो। चाहे लाभ हो या हानि, या कैसी भो स्थिति क्यों न हो सदैव सन्तुष्ट रहो। तृप्ति के साथ रहो। यह अत्यन्त आवश्यक है। तृप्ति ही आनन्द को प्रोत्साहन देती है उसे बढ़ाती है। तृप्ति-पूर्ण जीवन में प्रत्येक दिन एक त्योहार है। चिन्तित मानस, कामनापूर्ण मानस में चंचलता रहती है। एकाग्रता नहीं प्राप्त होती है। कामनायें शरीर में लपट के समान हैं। वह क्रमशः मनुष्य को जला कर भस्म कर देती हैं। तृप्ति कामनाओं के लिये महान औपधि है। असह्य गर्मी में यात्री जब पसीने से लथपथ हो रहा हो उस समय यदि शोतल जल वाली नदी के निकट पहुँच कर स्नान करता है तो उसे जो सुख और आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार लोभ तथा कामना रूपी अग्नि से पीड़ित व्यक्ति को तृप्ति रूपी सरोवर में स्नान करने से अत्यन्त सुख मिलता है।

केवल मोक्ष मार्ग के लिए ही व्यक्ति को तरसना चाहिए, लालायित रहना चाहिए। क्षुद्र सांसारिक सुख के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करना मूर्खता है। अपना सर्वस्व

सर्वेश्वर को अर्पण कर देना चाहिए तभी अत्यन्त तृप्ति प्राप्त होती है। इसको प्राप्त करने के लिये शान्ति, सन्तोष और विवेचन की आवश्यकता होती है। कम से कम इन तीन में से एक की प्राप्ति तो होनी ही चाहिए। तभी साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है। साक्षात्कार किसी और जगह किसी और कारण से कभी नहीं प्राप्त हो सकता। सबसे पहले सन्तोष को अपने स्ववश करोगे तो बाकी दो अपने आप तुम्हारे वश में आ जावेंगे। तृप्ति के सिवाय और कोई चीज मानव को इतना लाभप्रद नहीं हो सकती। इस तृप्ति को त्रैलोक्य की सम्पत्ति से भी अधिक निधि कह सकते हैं। ऐसा अनुभव करने वाला व्यक्ति अनमोल भगवत् विभूतियों में निमग्न रहता है। काम धेनुओं और कल्प वृक्षों से भी अधिक आनन्द दायक भण्डार उसके पास है। इस महान आनन्द में निमग्न होकर वह परम सुख को प्राप्त कर सकता है। ऐसे शाश्वत आनन्द को छोड़कर केवल दैहिक आनन्द के लिये तरसना निरी मूर्खता है।

इस नश्वर शरीर के प्रति अधिक मोह मत रखो। इस शरीर को एक उपकरण के रूप में, साधन के रूप में, उपयोग करो। पंच तत्वों के निर्मित अन्ततोगत्वा नष्ट होने वाले इस शरीर से तुम भिन्न हो। अलग हो। यह भली भांति समझ लो। तुम सदैव अविनाशी आत्मा स्वरूप हो इस भावना से तुमको सदैव ओत-प्रोत रहना चाहिए। जिस प्रकार तुम्हारे निवास करने वाला गृह तुमसे भिन्न है उसी प्रकार अज्ञानतावश कुछ काल तक शरीर धारण करने वाले तुम अपने शरीर से अलग हो। समस्त दुःख कष्ट आपद विपद तथा दासता का मूल कारण यह शरीर ही है। इस बात को अच्छी तरह से समझ लो। किन्तु इस शरीर को

तुम्हारी इच्छानुसार चलना चाहिए। इसको त्यागने के लिए सदैव तैयार रहो। इसको अपने नियन्त्रण में रखने के लिये कटिवद्ध रहो। इस शरीर को तुम्हें सावधानी के साथ प्रशिक्षण देना और प्रशिक्षित करना है। इसके साथ सावधानी से व्यवहार करना है। उपरोक्त समस्त बातें यद्यपि आध्यात्मिक साधना के अंग हैं किन्तु उनमें से कुछ का पालन भौतिक दृष्टिकोण से भी लाभप्रद है।

उपरोक्त प्रकार से शरीर को उपकरण रूप से प्रयोग करने से यह शरीर जीवन रूपी नदी को पार करने के लिए नौका रूप है। जब तक हम पार अर्थात दूसरे किनारे तक नहीं पहुंच जाते—परमार्थता तक नहीं पहुंचते—तब तक यह आवश्यक है कि यह शरीर रूपी नाव कमजोर न होने पावे इस नाव को चोट नहीं लगने देना चाहिए। इसमें छेद नहीं होने दो शरीर के अवयव रूपी नाव के सब भाग ठीक रहें इसके लिये सजग रहना चाहिए। अर्थात उचित समय पर बलवर्द्धक सात्विक मिताहार ग्रहण करना और उचित व्यायाम करना कभी नहीं त्यागना चाहिए। यही प्रयास आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुशासन के रूप में वास्तविक साधना में उपयोगी होता है। यह साधना ध्यान, स्मरण पूजन और भजन है। ऐसी साधना के अभ्यास के समय और उसके उपरान्त भी प्रसन्नता के साथ रहना चाहिए। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए। थकावट व निरुत्साह तुम्हारे पास नहीं आना चाहिए। यदि थकावट आती है तो रात्रि में साधना से पश्चात भीगे चने, बादाम और खसखस के वीज खाना चाहिए। यह शरीर को शीतलता व बल प्रदान करता है। इस प्रकार हर साधक को ध्यान साधना के साथ तृप्ति

नामक सद्‌गुण की वृद्धि करनी चाहिए।

तृप्ति सात्विक गुण है वह आलसीपन नहीं है। यह मानस को भगवान के प्रति झुकाती है और शान्ति देती है। अनावश्यक स्वार्थपूर्ण कार्यों को कभी नहीं प्रोत्साहन देती। सन्तुष्ट साधक पूर्णतया सत्वगुणी हो जाता है। हृदयान्तर स्थित आत्मा से उनका मिलन हो जाता है। कितना भी थकावट देने वाला कोई कार्य क्यों न हो वह अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उसे कर सकता है। अनेक प्रकार से विविध दिशाओं में दौड़ने वाला मानस और उसके विकार ईश्वर के प्रति केन्द्रीभूत हो जाते हैं। पूर्वकाल के ऋषि, भिक्षुक और योगी गण ऐसी संतृप्ति से ही निश्चित होकर साधनायें करके सार्थकता प्राप्त करते थे। संतृप्ति ही साधकों को साक्षात्कार मार्ग में चलने के लिये उत्साहित करती है, शक्ति प्रदान करती है। इस पथ की कठिनाइयों का उस पर कुछ भी असर नहीं होता। ऐसे सत्वगुण सम्पत्ति से साधक इस संसार की समस्त अ-शाश्वत वस्तुओं को विष के समान देखता है और तिनके समान उनको त्याग देता है। तृप्ति व सन्तोष से विवेक वैराग्य, विवेचनाशक्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती जाती है। ऐसे अनुभव प्राप्त मीरा, राधा, जैदेव, गौरांग आदि की जीवनियों का सम्यक् रूप से अध्ययन करो। इनसे तुमको चरम-सत्य का ज्ञान हो जावेगा।



प्रबोध—११

ध्यान का उद्देश्य पाप का विनाश है।

इस जगत में मानव जीवन का उद्देश्य आत्मज्ञान है। अर्थात आत्मसाक्षात्कार करना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जीवी को सम्पूर्ण रूप से वासना रहित होना चाहिए। ऐसी वासना रहित स्थिति ही मोक्ष है। वासनायें दो प्रकार की होती हैं—शुभ और अशुभ। शुभ-वासनाओं युक्त मानव ही जन्म मरण चक्र से मुक्ति पाता है। अशुभ वासनायें मानस के विकारों को प्रोत्साहन देती हैं और उसकी चंचलता बढ़ाती हैं। और सांसारिक वस्तुओं के प्रति ममता बढ़ती जाती है।

शुभ वासनाओं को जब प्रोत्साहन देते हैं तो जैसे भुने हुए अनाज अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार शुभ वासनाओं से पुनर्जन्म नहीं होता है। जब तुम शुभ वासनाओं से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हो ब्रह्मज्ञान अत्यन्त सरलता से प्राप्त हो जाता है। ऐसी शुभ वासनाओं के लक्षण हैं—महात्माओं के दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषण और सत्संग, उनके प्रति अभि-

रुचि, उनके सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के लिये अधिकाधिक रुचि, दया, प्रेम, सहनशीलता, सहिष्णुता, सत्य—भाषण, धैर्य, क्षमाशीलता, ब्रह्मचर्य आदि। अशुभ वासनाओं के लक्षण हैं—मानस को चंचल करने वाली विचित्रताओं को देखने की लालसा। अर्थात सिनेमा आदि। रजोगुण प्रधान भोजन करने की प्रवृति, (मांस मछली आदि) शराब आदि मादक पदार्थों पर ममता, दुष्ट भावनायें क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, कपट, दम्भ, ईर्ष्या, जलन, अशौच आदि। ये मलिन वासनायें तीन प्रकार की हैं। लोक वासना, शास्त्र वासना, और देह वासना। देह वासनायें हैं सुन्दर स्वरूप, बलवती स्वास्थ्य, रोग रहित शरीर की कामनायें। शास्त्र वासनायें हैं—शास्त्रों में प्रकाण्ड विद्वान हो कर दूसरों को पराजित करने की इच्छा, सभी पण्डितों से श्रेष्ठ होने की इच्छा। लोक वासनायें हैं—कीर्ति व यश पाने की लालसा, अधिकार व बड़े-बड़े पद पाने की इच्छा, प्रख्याति और अधिक गौरव पाने की इच्छा। ये समस्त कामनायें मलिन वासनायें ही हैं ये वासनायें जीवों को संसार बाधित कर देती हैं और उसके फलस्वरूप जीव को आवागमन के चक्र में फंसना पड़ता है। इस मानस रूपी वृक्ष के दो बीज हैं। वासना और प्राण। बीज एक वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता है। वृक्ष से बीज फिर उत्पन्न होते हैं। वासनाओं के कारण प्राण में कम्पन होता है। प्राण में कम्पन होने के कारण वासनायें काम करती हैं।

इन दोनों में से यदि एक नष्ट कर दिया जावे तो

दूसरा भी नष्ट हो जावेगा। इस लिये इन दोनों को नष्ट करने के लिये मानस में जो अज्ञानता है सर्वप्रथम उसको समाप्त करना होगा। यह अज्ञानता अकेली नहीं है। इसके एक आसुरी पुत्र भी है। जिसका नाम है अहंकार। इस आसुरी अहंकार के दो पुत्र हैं १. राग और २. वासना। ये दोनों अत्यन्त निकट सम्बन्धी हैं। जहां राग होता है वहां वासना अवश्य होती है। ये दोनों सहोदर सदैव साथ रहते हैं। कभी इनमें विछोह नहीं होता। राग और अर्थ में इच्छा या स्नेह। राग से ही मानव को मामकार की भावना होती है। इस मामकार से लालच और लालच के फलस्वरूप चिन्तायें भुगतनी पड़ती हैं। इसलिये पहिले राग और वासना को दूर करने के लिये अहंकार को समाप्त करना चाहिए। ऐसे अज्ञान को समाप्त करके सु-ज्ञान को बढ़ाना, ध्यान का उद्देश्य है। अज्ञान, अहंकार: राग और वासनाओं का क्षय होना ही मोक्ष है।

जो वासनाओं का दास होता है वही ज्ञानहीन है। वास्तव में वह अत्यन्त दुर्बल है। ऐसे व्यक्ति को भी दु:खी होने, चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वासनाओं को निर्मूल करने के साथ ही सोये हुए दैव-तत्व को वह फिर प्राप्त कर सकता है। वासनायें हृदयान्तर्गत होती हैं और हृदय को व्याकुल कर देती हैं। हृदय की व्याकुलता से सुख की स्मृति आती है। सुख के पूर्व के पूर्व अनुभव याद आते हैं। सुख की याद से कामनायें पैदा होती हैं। कामनाओं की पूर्ति के लिये इन्द्रियों और उनका राजा मानस मिलकर प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देते हैं। तब मानव जिस वस्तु की लालसा करता है उसको प्राप्त करने के लिये उसका सुख

अनुभव करने के लिये प्रयत्न करता है। यह समस्त क्रियाकलाप अति सूक्ष्म और क्षण मात्र में पलक मारते ही हो जाते हैं। वासनायें अत्यन्त सूक्ष्म हैं। जिस प्रकार बीज में एक महान वृक्ष, उसके फल फूल, शाखायें प्रशाखायें आदि निक्षिप्त हैं उसी प्रकार वासनाओं में भी उपरोक्त सभी चीजें छिपी हैं। इसी लिए वासनायें मानव के विषय सुख (इन्द्रिय सुख) के कारण है। अगर वासनायें नहीं हैं तो मानस निर्मल हो जाता है और उस वासना से सम्बन्धित सभी क्रियाकलाप नष्ट हो जाते हैं। वासना, सत्यमार्ग के लिये, आत्मज्ञान मार्ग के लिये और अमरत्व के लिये परम शत्रु हैं। मलिन वासना पूर्ण मानस बन्धनों के बस में हो जाता है। वासना रहित मानस नहीं है उससे कुछ अधिक है।

प्रकृति ही वासनामय संसार है। वासनाओं के कारण ही मानस भिन्न भिन्न सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होता है और उनके बारे में सदैव मनन व चिंतन करता रहता है। वासनायें जब नष्ट हो जाती हैं तो मानस इन वस्तुओं के बारे में सोचना बन्द कर देता है। मानस को जिस रंग में रंगिये उसी रंग का हो जाता है। मानस एक वस्त्र सा है। सात्विक वासनाओं से मानस सफेद रंग का हो जाता है। राजसिक वासनाओं से वह लाल रंग का हो जाता है। तामसिक वासनाओं से वह काले रंग का हो जाता है। इन वासनाओं को नष्ट करने के लिए ही मानव को ध्यान साधना करना चाहिए। वासनायें कम होने से तीव्र गति से ध्यान करने के लिए शक्ति भी प्राप्त होती है। मानस का अर्थ हं वासनाओं का समूह।

कुछ लोग कहते हैं कि कई वर्ष से ध्यान साधना करने

पर भी ध्यान नहीं प्राप्त हो रहा है। इसका कारण शायद अब तुमको भली भांति ज्ञात हो गया होगा। वासनाओं को नष्ट न करने के कारण ही उनको ध्यान सिद्धि नहीं प्राप्त होती है। इसलिये ध्यान सिद्धि के लिए इसके प्रबल शत्रु वासनाओं को समूल नष्ट कर देना चाहिए। महान दृढ़ता के साथ अडिग विश्वास के साथ वासनाओं का मुकाबला करना चाहिए।

जब कभी भी साधक अपने मानस को मलिन वासनाओं का क्षेत्र पाता है तो उसे इन वासनाओं को अपनी इच्छा शक्ति से अपनी आध्यात्मिक साधनाओं से दूर कर देना चाहिए। जीवन-मुक्त ने इन वासनाओं को जला दिया है। किन्तु गृहस्थ इन वासनाओं का पालन पोषण करता है और उनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है। वासनाओं को दबाने से हमें कोई लाभ नहीं होता। जब विषधर सर्प का विष दांत निकाल देते हैं तो वह विषरहित हो जाता है ; निरीह जीव हो ज़ाता है। इसी तरह वासनाओं को, विषत्व को निकाल देना चाहिये। तभी मानव ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

पवित्र वासनायें कितनी भी हों उनसे कोई हानि नहीं है। मगर पवित्र वासनायें भी एक प्रकार के बन्धन हैं। जिस प्रकार पैर में गड़े कांटे को निकालने के लिये एक दूसरे कांटे का प्रयोग करते हो और फिर दोनों कांटों को फेंक देते हो इसी प्रकार मलिन वासनाओं को दूर करने के लिये पवित्र वासनाओं का प्रयोग करो फिर दोनों प्रकार की वासनाओं को दूर कर दो अर्थात मोक्ष वासना को भी क्रमशः त्याग देना चाहिए। जंजीर चाहे लोहे की हो चाहे सोने की—है तो जंजीर ही—बन्धन तो बन्धन ही है। इन

दोनो बन्धनों से मुक्त हा जाना चाहिये—अर्थात् वासना रहित हो जाना चाहिए। शुभ वासना और अशुभ वासना (मलिन वासना) दोनों से अलग हो जाना चाहिये।

परमेश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये वासना क्षय, मनोविजय तथा तत्वज्ञान अभ्यास तीनों आवश्यक हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये इन तीनों की आवश्यकता है। केवल एक के अभ्यास से काम नहीं चल सकता। जोवन मुक्तों में यह वासनायें भुने हुए चने की भांति होती हैं। उनके कारण उसे फिर पूर्वजन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता। देखो। कारण शरीर अज्ञान से मिलता है वह वासनाओं और संस्कारों से भरा रहता है। किन्तु आत्मा सदैव निर्मल है उसमें वासनायें होती ही नहीं। वह—लिंग—भेद रहित है। मनोरहित है। इन्द्रिय रहित है और स्वरूप रहित भी है। इतना ही नहीं वह प्राणरहित भी है। जब प्राण होता है तभी न कहते हैं सजीव और निर्जीव ? इसलिये आत्मा उससे भी परे है। ऐसे आत्मस्वरूप का ध्यान निर्मल न होकर मलिन कैसे हो सकता है ? जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों एक जगह एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार पवित्रता और निर्मलता के साथ अपवित्रता नहीं रह सकतो। वासनाओं को नष्ट करके, उसके द्वारा मनोविलय करके सच्चिदानन्द परब्रह्म में विलीन स्थिति प्राप्त करना चाहिए।

इस जगत में जितने कारखाने हैं उनमें से इस शरीर का कारखाना परम अद्भुत है। यह भगवत् सम्बन्धी होने से अति अद्भुत है। ऐसे विचित्र कारखाने में वासनायें कामनाओं के रूप में परिवर्तित होकर मलिन वासनायें नष्ट होकर शुभ वासनायें निर्मित होती हैं और उनके द्वारा उनके

अनुरूप भावनाय उत्पन्न होती हैं। क्रमशः अधिक मूल्य वाला ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये वासनायें पहले निर्मूल कर देना चाहिए।

वासनाओं का निर्मूलन एक दुष्कर कार्य है। बड़े बड़े पहाड़ भी जड़ सहित उखाड़ कर फेंके जा सकते हैं। किन्तु वासनाओं का उखाड़ कर फेंक देना सरल नहीं। इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है, इच्छा शक्ति से, साधना की तीव्रता से और दृढ़ निश्चय से इनको धीरे धीरे उखाड़ कर फेंक सकते हैं। तुमको चाहे जितना भी कष्ट उठाना पड़े तुम अपनी तीव्रता, निश्चय और इच्छा शक्ति कभी शिथिल न होने दो। यही वासनाओं का नाश कर सकते हैं। वासनायें मानव के मानस को अपना दास बनाकर नचाती हैं। ब्रांडी, मदिरा, अफीम आदि मादक द्रव्यों की मादकता तो केवल कुछ घण्टों तक ही रहती है; मगर वासनाओं की मादकता जन्म जन्मान्तर तक रहती है। ऐसे शक्तिशाली प्रबल वासनाओं से छुटकारा दिलाना ही ध्यान का परम लक्ष्य है।

प्रबोध–१२

ध्यान का शुभ लक्षण–मलिन वासनाओं का उन्मूलन

वासनाओं से आविर्भूत व्यक्ति शराबी की भाँति इस जगत में घूमता फिरता है। ऐसे लोगों की सत्यासत्य विवेचना बिलकुल शून्य होती है। वासनाओं की महान सम्मोहिनी शक्ति में डूबे रहने से इसके दुष्परिणाम उनकी समझ में नहीं आते। ऐसे लोग निर्लज्ज होकर विषय सुखों में डूबे रहते हैं। इन सांसारिक सुखों के साधनों को इकट्ठा करने और उनसे आनन्द उठाने में व्यस्त रहते हैं; वासनाओं में डूबे रहने वालों की बुद्धि काम नहीं करती। विषय सुखों में निर्विराम डूबे रहने से वासनायें अत्यन्त प्रबल हो जाती हैं इसीलिये श्री मद्भगवद्गीता में कर्मफल–त्याग पर विशेष जोर दिया गया है। फलों की आशा करते रहने से वासनाओं की वृद्धि होती जाती है। ऐसे लोगों में अहंकार और धूर्तता प्रवल होती है ओर वे लोग धन-प्राप्ति के लिए न जाने कितने अन्याय कार्य करते हैं। धन ही ऐसे लोगों का ईश्वर है। धन आवश्यक अवश्य है किन्तु आवश्यकता से अतिअधिक धन और ऐसा धन जो सुख नहीं देता उसकी कामना

कदापि नहीं करनी चाहिए। इतना ही नहीं ऐसे व्यक्ति संसार में प्रशंसा की कामना करते हुए अपने दुष्कर्मों को छिपाने का प्रयास करते हैं। जिससे उनकी बदनामी न हो यह भी एक मलिन वासना है।

इस जगत के अधिकांश लोग अपनी स्वार्थ सिद्ध हेतु कुछ लोगों की चापलूसी करते हैं और प्रशंसा करते हैं और कुछ लोगों की निन्दा भी करते हैं। मानव को इनसे परे रहना चाहिये। चापलूसी और प्रशंसा को पान की पीक की तरह समझना चाहिए जो थूक दिया जाता है तभी मानव को वास्तविक सुख मिलेगा। जहां तक निन्दा करने का प्रश्न है देखो। इस जगत के लोगों ने राम, कृष्ण, विष्णु, शिव-आदि औतारी शक्तियों की भी निन्दा की है। इन लोगों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा है। देवताओं की बहुत बुराई करते हैं और उन पर कलंक लगाने का प्रयास भी करते हैं। ऐसे लोगों की नजर में फिर साधारण मानवों की हस्ती ही क्या है ? ऐसे दुराचारियों के लिये अपने समान व्यक्तियों की हस्ती कुछ नहीं होती है। उनसे साधारण मानव के लिये क्या आशा की जा सकती है। गोरे चमड़े वाला काले चमड़े वाले की निन्दा करता है और काले चमड़े वाले गोरे चगड़े वालों से घृणा करते हैं। शैव और वैष्णव भी इसी प्रकार एक दूसरे की निन्दा करते रहते हैं। जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म अपना गांव और स्वरूप जिस प्रकार पसन्द होता है आनन्द देता है उसी तरह उसको अपने इष्ट देव का विग्रह, अपना पूजा विधान और पद्धति प्रिय होती है। आनन्दप्रद होती है। दुर्भाग्यवश परिणाम यह हुआ है कि एक दूसरे से धृणा करना स्वाभाविक हो गया है। यह

भगवत् कार्य होते हुए भी मलिन वासना की श्रेणी में आता है।

ऐसी अज्ञानता से जो नीच भावनायें उत्पन्न होती हैं उनको जप व ध्यान से ही दूर किया जा सकता है। जप व ध्यान की आध्यात्मिक साधना मानव के हृदय में आत्मज्ञान रूपी विशाल भावना जगाकर मलिन वासनाओं को नष्ट कर देती है और पवित्र वासनाओं का प्रोत्साहन देती है। यह मुझे बड़े आश्चर्य की बात लगती है कि मलिन वासनाओं से अनेक प्रकार के कष्ट और दुःख उठाते हुए भी मानव इनको अतिक्रमण करने के लिये, इन वासनाओं को नष्ट करने के लिये प्रयत्न नहीं करता? वासनाओं के चक्कर में पड़कर मानव ऐसा सोचता है कि—मैं ठीक मार्ग पर हूं—और इसीलिये वह मलिन वासनाओं से अटूट सम्बन्ध रखता है। मुझे आशा है कि यदि वह कम से कम कुछ अच्छे आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करे तो उसके विचार कुछ तो ठीक हो जायेंगे। शास्त्रों की संख्या असंख्य है—जीवन क्षण भंगुर है, कठिनाइयां अनेक हैं; इसलिये शास्त्रों का सार ग्रहण करके उसके अनुसार आचरण करके मलिन वासनाओं से दूर हो जाओ।

व्यर्थ की पुस्तकों को पढ़ने से, ऐसे शास्त्रों को पढ़ने से जो तुम्हारे समझ में नहीं आते और ऐसे भक्ति मार्गों के बारे में अध्ययन करने से जिनके अनुरूप तुम चलना नहीं चाहते, कोई लाभ नहीं है। कम से कम कुछ न कुछ सही मार्ग का पालन करना चाहिए। ऐसा बेकार अध्ययन करना जिसका पालन नहीं करना है जिसके अनुसार आचरण नहीं करना

है–भी एक मलिन वासना है।

देखो। भारद्वाज ऋषि एक के बाद एक लगातार तीन शताब्दियों तक वेदों का अध्ययन करते रहे। इसके पश्चात चतुर्थ शताब्दि में भी उन्होंने वेदों का अध्ययन प्रारम्भ किया तव इन्द्र भारद्वाज ऋषि के पास आये और उनको ब्रह्म विद्या के विषय में तथा मोक्ष प्राप्ति के रहस्यों के बारे में उपदेश दिया। तब भारद्वाज ने वेदों का अध्ययन बन्द कर दिया और कठोरतम ध्यान करने लगे तब उन्होंने आत्मानुभव को स्वयं अनुभव किया अतः बिना उसके रसास्वादन किये ही केवल अध्ययन से कोई भी लाभ नहीं ऐसी मलिन वासना को भी धीरे धीरे दूर कर देना चाहिए। फालतू अनेक विषयों के बारे में अध्ययन करते रहना भी एक मलिन वासना है। एक बार महर्षि दुर्वासा भगवान शंकर के पास एक गाड़ी भर कर धार्मिक ग्रन्थ लेकर गये। तब नारद ने उसकी तुलना गधे (कहावत के गधे से) से दी। पुस्तकों से अत्यधिक अनुराग स्वयं ही एक दुर-वासना है–अवांछनीय अभ्यास है। मनुष्य चाहे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बारे में सहस्रों पुस्तकें एकत्रित करले उनका बोझ ढोता रहे, उन सबको पढ़ भी ले अध्ययन भी करले किन्तु बिना वास्तविक अनुभव के उनकी शिक्षा का रसास्वाद नहीं किया जा सकता–समझ में नहीं आ सकता है। यह भी एक शास्त्र वासना है। महर्षि नारद की यह बात सुनकर महर्षि दुर्वासा को ज्ञान हो गया और उन्होंने उन समस्त पुस्तकों को सागर में फेंक दिया और प्रगाढ़ ध्यान करने लगे। देखो ! महर्षि गण भी समस्त ज्ञान की प्राप्ति के लिये ध्यान को कितना आवश्यक समझते हैं। साधक चाहे कितना भी ऊँचा हो या नीचा, ध्यान को ही लक्ष्य

मानकर उसी के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

आत्मज्ञान की उपलब्धि अनेक शास्त्रों के माध्यम से, विद्वता से, सूक्ष्म बुद्धि से और धार्मिक चर्चाओं से नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे लोगों के हिस्से में आत्मज्ञान किंचितमात्र भी नहीं पड़ता है। देखो! महर्षि उद्दालक के सुपुत्र श्वेतकेतु एक महान विद्वान व पण्डित थे। अपने पुत्र को एक बार अपने सामने बिठा कर महर्षि ने इस प्रकार प्रश्न किया– श्वेतकेतु! जिस शास्त्र का अध्ययन करने से हर चीज के जानने की शक्ति प्राप्त हो जाती है उसका क्या तुमने अध्ययन कर लिया है? जब श्वेतकेतु ने उत्तर दिया—ऐसा कोई शास्त्र मैंने नहीं पढ़ा है तब महर्षि उद्दालक ने आत्मज्ञान प्रदान करने वाली अनुपम आत्मविद्या का ज्ञान अपने पुत्र को सिखाया था।

इसलिये मानव को अपने मानस की प्रवृत्तियां, स्वभाव, आदत और चिन्तन शैली को ठीक प्रकार से जान लेना चाहिए। इस प्रकार अध्ययन कर लेने के पश्चात ही मानव अपने मानस को अपने आधीन कर सकता है। तभी उसकी स्मरण शक्ति, इच्छाशक्ति और भावना-शक्ति की वृद्धि हो सकती है।

मन का स्वभाव है चंचलता। वह वायु सदृश्य है। तभी अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से इस प्रकार अनुरोध किया था :—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्,
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

मानस में चंचलता बहुत है। हे कृष्ण। यह तीव्र गतिशाली और शक्तिशाली भी है उसको अपने आधीन रखना अत्यन्त दुष्कर है। तब श्री कृष्ण नें उत्तर दिया—हे अर्जुन। नि:सन्देह जो तुमने कहा है ठीक है, किन्तु निर्विराम प्रयास से और वैराग्य से उसको अपने आधीन कर सकते हो। इसी लिये ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करो।

मानस पर अधिकार प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम वासनाओं और कामनाओं का उन्मूलन करना चाहिए। तभी इन्द्रियां तुम्हारे वश में होंगी। इन दोनों का उन्मूलन करना एक अत्यन्त विशिष्ट मार्ग है। कामनायें ही मन का उद्वेलन करती हैं। इन्द्रियों की ओर जब झुकते हो तो जिस प्रकार कुत्ता अपने मालिक के पीछे पीछे जाता है उसी प्रकार मानस भी इन्द्रियों के पीछे जाने लगता है। आह ! इन्हीं कारणों से जीव आनन्द प्रिय मानस और भ्रमित करने वाली इन्द्रियों के मायाजाल में पड़कर कष्ट उठा रहा है। इन सारी वाधाओं से, इन्द्रियों के मायाजाल से, कामनाओं के भ्रमजाल से बचा कर मानस को अपने आधीन रखने के लिये ध्यान और जप की साधना करो तभी तुम अपनी इच्छा शक्ति, स्मरणशक्ति और भावना शक्ति की वृद्धि उचित मार्ग में करने में सफल हो सकोगे। ध्यान साधना के बिना मानस को अपने नियन्त्रण में रखना असम्भव है। ध्यान के बिना मानस पर नियन्त्रण करने का प्रयास उसी प्रकार है जैसे मदमत्त हाथी को डोरे से बांध कर रखने का प्रयास। इसलिए सर्वप्रथम कामनाओं का त्याग करो। इन्द्रियों को अपने आधीन रखने के लिये, मन को आत्मा में स्थापित करने के लिये जप और ध्यान अत्यन्त प्रधान हैं। जप और

ध्यान सिद्धि होते हा सब तुम्हारे वश में हो जावेंगे ।

कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग कर देना चाहिए। कुछ साधक और ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी कुछ कामनाओं को नहीं छोड़ते—अपनी तृप्ति के लिये उनको छोड़ने से इन्कार करते है। धारणा का अभ्यास करने वाले कुछ गृहस्थ भी अपनी कुछ कामनाओं को नहीं छोड़ते। अपनी निजी तृप्ति के लिये उनको छोड़ने से अस्वीकार करते हैं। इससे इन लोगों की शक्ति का अपव्यय होने से साधना में वृद्धि नहीं हो पाती है। ऐसे लोग आध्यात्मिक साधना रूपी सीढ़ी के डंडे चढ़कर फिर फिसलकर नीचे गिर पड़ते हैं। ऐसी मानस चंचलता को समाप्त करने के लिए भी ध्यान की अत्यधिक आवश्यकता है। केवल एक इन्द्रिय को अपने वश में रखने से कोई लाभ नहीं है। समस्त इन्द्रियों को सभी तरफ से रोकना चाहिए। जैसे नदी के प्रबल वेग को रोकने के लिये बांध। यद्यपि यह सर्वप्रथम आवश्यकता है किन्तु प्रथम में अति कठिन प्रतीत होता है और साधक ऊब भी जाता है। किन्तु निराश नहीं होना चाहिए। सहनशीलता के साथ प्रयास करते रहने से फल अवश्य मिलेगा। कुछ साधक अपना मनोरथ पूरा न होता देखकर इस साधना का मार्ग त्यागकर अपनी इच्छानुसार साधनायें करना प्रारम्भ कर देते हैं। इसका अभ्यास करना भी छोड़ देते हैं। यह ठीक नहीं है। यह उचित नहीं है।

●

प्रबोध—१३

एकाग्रता ही ध्यान का सार है :—

साधना सिद्धान्तों का क्रमशः धीरे धीरे अभ्यास करने से और इस अभ्यास को बीच में कभी भी न त्यागने से मनस् चंचलता को रोका जा सकता है और उसे एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित किया जा सकता है। इसी को कहते हैं एकाग्रता। इसी को धारणा भी कहते हैं। अखण्ड तैल-धार की तरह ध्यान करते जाना 'धारणा' है। साधना प्रारम्भ करने वाले नये विद्यार्थियों को धारणा कुछ ऊब पैदा कर सकती है। ध्यान का क्रमशः अभ्यास करने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसको ध्यान में रख कर वह उसको छोड़ना नहीं चाहते। जिस दिन उन्हें ध्यान करने का अवकाश नहीं मिलता उस दिन उनको मनः शान्ति नहीं मिलती। ध्यान साधना से दिव्य सन्तोष और सम्यक्ज्ञान, अन्तर्दृष्टि, आत्मा की पहचान भगवान से एकीकरण आदि प्राप्त होते हैं। यह ध्यान साधना शास्त्र तीनों लोकों में अत्यन्त चमत्कारी है। मानस पल भर में न जाने कितने कार्यों के बारे में सोचता है। कहां कहां जाता है और फिर लौट कर आता है। वह

अकथनीय तीव्र गति से कार्य करता है। एक वस्तु के सम्बन्ध में कुछ समय तक सोचता है फिर उसे छोड़कर दूसरी वस्तुओं की ओर दौड़ता है। इन वस्तुओं से सम्बन्धित विषयों के बारे में वह तीव्र गति से सोचने लगता है।

साधक को एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भागते हुए मानस को सही रास्ते पर लाना चाहिए। सही वस्तु के बारे में उसे सोचने के लिये विवश करना चाहिए। इसी को कहते हैं आध्यात्मिक साधना। इसका दूसरा नाम है–धारणा–ध्यान। अगर इस प्रकार से नहीं करते हैं यानी इधर से उधर, उधर से इधर अपने मानस को दौड़ने देते हैं तो यह मर्कट ध्यान कहलाता है। यह साधक पुरुषों के लिये अत्यन्त भयावह है।

धारणा-ध्यान ही श्रेष्ठ मार्ग है। विशेष करके धारणा ध्यान में मानस की इस प्रकार की यात्रा करने की शक्ति कम होती जाती है और एक ही वस्तु में क्रमशः मानस अपनी शक्ति को लगाने का आदी हो जाता है। ऐसी स्थिति—अवस्था को कदापि न छोड़ कर साधना करनी चाहिए। मान लो मेज का ध्यान कर रहे हो तो उसके ऊपर का तख्ता, उसके पैर, उसकी साइज और किस प्रकार उसका निर्माण हुआ यह सब याद करते हैं। दूसरी अन्य चीजें मेज के ध्यान के समय नहीं याद आनी चाहिए। अगर उस समय चारपाई का ध्यान आ गया तो न मेज का ध्यान ठीक प्रकार से कर सकोगे न चारपाई का। भावना की स्थिति अखण्ड प्रकार की होनी चाहिए। इसी प्रकार भगवान के स्वरूप का ध्यान करते हुए भगवान के भिन्न २ अवयवों का

ध्यान करें फिर उनके पूर्ण स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। उस स्वरूप का ध्यान करते करते एक शुभ समय ऐसा आ जाता है कि तुम उस स्वरूप को भी भूल जाते हो। इस अवस्था में तुम अपना-आपा भी भूल जाते हो। इसी अवस्था को कहते हैं समाधि। यदि मन में इस समय कोई एक भाव वर्तमान होता है तो उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। पातंजलि महर्षि के राजयोग शास्त्र में जो मनोविलय (मनोनाष) कहा गया है वह यही है।

मानस जड़ पदार्थ होते हुए भी जिस प्रकार सूर्य किरणों से शक्ति ग्रहण कर ठंडा पानी भी गरम हो जाता है उसी प्रकार आत्मा से शक्ति ग्रहण करके मानस चैतन्य रूप दिखाई देता है। मानस के पर्दे के पीछे जो बुद्धि है उसकी शक्ति प्रतिबिम्बित होती है। अज्ञान–स्वरूपी मानस की जड़ बुद्धि ही है ऐसा प्रतीत होगा। मानस आत्मा की तरह प्रकाशमान नहीं है। मानस की कान्ति वर्षा ऋतु के जुगनू की कान्ति की तरह है–क्षणिक है। आत्मा सूर्यों का सूर्य है प्रकाशों का प्रकाश है, वही परम ज्योति है वही स्वयं ज्योति है।

जिस का तुम ध्यान करते हो उसको छोड़कर मानस को अन्य वस्तुओं की ओर नहीं जाने देना चाहिए। तुम कहीं भी जाओ कहीं भी रहो जिसका तुम ध्यान करते हो उसी पर सदैव मानस को केन्द्रित रखो। जो भी तुम्हारी आवश्यकतायें हैं, साधना मार्ग में वे सब तुम को धीरे धीरे प्राप्त हो जायेंगी। किन्तु सदैव एक ही रूप का ध्यान करना चाहिए। आज एक स्वरूप का ध्यान कल दूसरे स्वरूप का ध्यान ऐसा बदलना नहीं चाहिए। जो तुमको आनन्द नहीं प्रदान करता है जो तुमको कष्टदायक है जो तुम्हारे विश्वास

को चंचल करता है उसके बारे में कभी भी नहीं सोचना चाहिए। अगर सोचना ही पड़े तो उनको अच्छी भावना से सोचना चाहिए। उनमें जो भलाई है उसी को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार से अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन रखना चाहिए। इन्द्रियां स्वयं मानस की दास हैं, इसलिए यदि मानस पर अधिकार प्राप्त कर लिया तो इन्द्रियां अपने आप तुम्हारे अधीन हो जायेंगी। कुछ लोग मानस को वशीभूत न करके इन्द्रियनिग्रह के लिए इन्द्रियों की कठिन तपस्या करते हैं। वे अज्ञानी हैं और वास्तविक अनुशासन से अनभिज्ञ हैं। वास्तव में कामना और आसक्ति को समाप्त कर देना चाहिए। खजाने के पहरेदार कितने भी सजग क्यों न हों चतुर डाकू किसी न किसी प्रकार से उसको लूट ही लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी और विवेकी होते हुए भी अपनी इन्द्रियों को यथाशक्ति अपने वश में रखने के लिये प्रयत्न करने पर भी मानस इन इन्द्रियों को अपनी ओर खींचकर अपनी इच्छा पूर्ति उनके द्वारा करा ही लेता है। देखो! महर्षि विश्वामित्र ने कितनी कठोर तपस्या की थी फिर इन्द्र द्वारा प्रेरित अप्सरा को देखकर उनका मन चलायमान हो गया और उनको कामोद्वेग हो गया। केवल बाहर का कपाट बन्द करके और अन्दर का कपाट बन्द न करके सोने से विपत्ति अवश्य उठानी पड़ेगी। यदि बाहर और अन्दर दोनों कपाट बन्द करके सोयेंगे तो चोर के अन्दर घुसने की सम्भावना बहुत कम हो जावेगी। साधक को इसी प्रकार अपने शरीर भवन के बहिद्वारों को बन्द करना चाहिए अर्थात इन्द्रियों को अपने अधीन रखना चाहिए। विषय-वासनायें-पूरित मानस रूपी अन्तर्कपाट को शान्ति और वैराग्य द्वारा अपने अधीन रखने का प्रयास

करना चाहिये। तभी वास्तविक आनन्द और आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। इस कारण भगवान कृष्ण ने एक बार अर्जुन से कहा—हे अर्जुन ! जो इन्द्रियों को अपने आधीन रखना चाहता है उसको मेरे प्रति सम्पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। इन्द्रियां सदैव वहिर्मुखी होना चाहती हैं वह अज्ञानी को वाह्य वस्तुओं की ओर खींचती हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि विवेक और वैराग्य के साथ रहकर उनकी सहायता से उनकी इस वहिर्प्रवृत्ति को रोके। ताँगा हाँकने वाला जिस प्रकार लगाम से अपने वदमाश घोड़े को अपने आधीन रखता है; उसी प्रकार साधक को भी विवेक और वैराग्य की सहायता से अपने मन को वश में रखना चाहिए। इन्द्रियों को यदि अपने वश में नहीं रखा गया है तो साधक का सत्यानाश कर सकती हैं। ऐसा साधक एक क्षण के लिए भी ध्यान नहीं कर सकता है।

ध्यान और धारणा के लिये भगवान के स्वरूप का ध्यान अत्यन्त आवश्यक है—मुख्य है। तुम्हारे अन्दर इतनी शक्ति होनी चाहिए कि अगर तुम्हारे समक्ष वह रूप नहीं है तो भी तुम उसका ध्यान कर सकते हो। उस स्वरूप की कल्पना कर सकते हो। सही धारणा से भी शक्ति प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है। कुछ लोग सही रास्ते पर चलने के लिये श्रद्धाहीन होते हुए भी धारणा प्रारम्भ कर देते हैं; यह उनकी निरी मूर्खता है। धारणा के लिये सात्विक गुण सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। पहिले सही रास्ते पर चलने के अभ्यस्त होकर मानस को पवित्र बनाओ तत्पश्चात् धारणा का अभ्यास करो। मानस की पवित्रता के बिना धारणा करने से कोई लाभ नहीं है। कई महापुरुष केवल

इसलिये साधना-पथ भ्रष्ट हो गये कि उनमें गन्दी आदतें वर्तमान थीं और वह धारणा का अभ्यास करने लगे। धारणा में प्रथम मानस को किसी ऐसी वस्तु के प्रति नहीं लगाना चाहिए जिससे उसे आनन्द नहीं प्राप्त होता है और कष्ट होता है। यदि ऐसी वस्तु पर मानस को लगाया भी तो उसका स्थिर होना कठिन है। आनन्ददायक वस्तु पर ही पहले धारणा लगाना चाहिए। पद्मासन लगाकर नासिकाग्र पर दृष्टि लगाओ। पहले एक मिनट तक ऐसा करो फिर धीरे धीरे बढ़ाकर तीन मिनट, ६ मिनट, ९ मिनट तक करो। फिर ध्यान धारणा की शक्ति बढ़ाते हुए आध घण्टे तक कर सकते हो। धारणा की शक्ति क्रमशः बढ़ानी चाहिए उसके साथ जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। इस अभ्यास से मानव को एकाग्रता प्राप्त होती है और धारणाशक्ति की वृद्धि होती है। एकाग्रता और धारणा सिद्धि के लिए प्रथम कुछ कठिनाइयों का सामना अवश्य ही करना पड़ता है। भगवान के प्रति अपने मानस को लगाना चाहिए। और उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर स्वप्न में भी ध्यान न देना चाहिए। इस प्रकार के सतत् अभ्यास करने से अन्त में तुम्हारी दृष्टि अपने हृदय निवासी आत्मा के प्रति केन्द्रित हो जाती है। यही ध्यान का लक्ष्य है ध्यान का पूर्ण फल है।

धारणा क्या है? पहले इसे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। मानस को किसी वस्तु पर केन्द्रित करना ही योग शास्त्र में धारणा कहलाता है। मानस और उसकी प्रवृत्तियां एक वस्तु के प्रति स्थिरता से केन्द्रित रखने को धारणा कहते हैं। धारणा के द्वारा ही ध्यान सिद्धि होती है। धारणा का मुख्य लक्षण है—अचंचलता। धारणाशक्ति ही चंचलता को नष्ट कर देती है। धारणा का स्वरूप है महान अ-

चचलता। इसका कारण है महान आनन्द प्राप्त होते रहना। ध्यान के लिये भगवत्-नाम स्मरण नितान्त आवश्यक है। नाम स्मरण हो सफलता दे सकता है। सर्वप्रथम ऐसा पूर्ण विश्वास न हो तो भो नामस्मरण और उसके प्रति श्रद्धा कभी नहीं खोना चाहिए। साधना को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। कुछ समय तक इस प्रकार करने से सफलता अवश्य मिल जाती है ध्यान हो आध्यात्मिक शक्ति है। भवरोग को दूर करने की अमोघ औषधि है। क्रोध अहंकार, मामकार परछिद्रान्वेषण–प्रवृत्ति, पाप बुद्धि (कल्मष बुद्धि) आदि दुर्गुण ध्यान के रास्ते में अड़चनें हैं। पहले इनको दूर करना होगा। यह अन्तर्मन में सूक्ष्म रूप से छिपे रहते हैं। सागर के मध्य में जिस प्रकार जल प्रवाह छिपा रहता है उसी प्रकार ये मानस में रहते हैं।

साधक को छोटी छोटी वस्तुओं के लिये भी सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। कुपित नहीं होना चाहिए। यदि कुपित होता है तो ध्यान में तनिक भी वृद्धि नही हो सकती। मृदु-व्यवहार-सहित-प्रेम-भावना उसकी होंनी चाहिए तभी बुरी आदतों से छुटकारा मिलेगा क्योंकि बुरी आदतों का जनक क्रोध है। यदि क्रोध है तो किसी भी क्षण में, किसी के प्रति भी, किसी भी प्रकार की बुराई की जा सकती है। पहिले ऐसे दुर्गुणों का नाश कर देना चाहिए और इसके लिये क्रमशः यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। साधक को चाहिए कि यदि कोई उसके दोष निकालता है, बुराई करता है तो उसकी निन्दा न करे और अपने दोषों को सुधारने का प्रयत्न करे और जिसने दोष दिखाया है उसको धन्यवाद दे। उसके प्रति कभी भी कुपित नहीं होना चाहिये। अगर क्रोध

करता है तो सत्यता का द्वेषी होता है और तब अनेक प्रकार की बुरी आदतें उसमें पड़ जाती हैं। इसलिये अच्छाई से प्रेम करना चाहिए और बुराई को त्यागना चाहिए। किसी से भी द्वेष नहीं करना चाहिए और तभी आध्यात्मिक ज्ञान में और ध्यान में प्रगति प्राप्त हो सकती है।

प्रबोध–१४

अहंकार, अहमन्यता, क्रोध कपट, परछिद्रान्वेषण–प्रवृत्ति, ईर्ष्या–ये सब ध्यान मार्ग की अड़चनें हैं। इनकी सूक्ष्म वासनायें मानस में छिपी रहती हैं। यदि कई दिन तक झाड़ू न लगाया जावे तो कमरा जैसे गन्दा हो जाता है और झाड़ू लगाने से साफ सुथरा हो जाता है उसी प्रकार मानस भी ध्यान से शुद्ध हो जाता है और उसकी मलिनतायें दूर हो जाती हैं। साधकों को अंतर्दृष्टि से अपने मानस का निरीक्षण करना चाहिए। सही सिद्धान्तों का अवलम्बन करके क्रमशः मलिनताओं को एक एक करके उखाड़ फेंकना चाहिए। अहंकार चिरकाल तक स्थायी रहता है। राजसिक मानस में अनेक प्रशाखायें सभी तरफ फैली रहती हैं, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह समाप्त हो गया है नष्ट हो गया है, किन्तु स्वल्प अवसर प्राप्त होते ही पुनः जीवित हो जाता है। अतः साधक को बहुत सावधान रहना चाहिए। आवेश कभी भी स्थायी रूप से नहीं रहता किन्तु यह फिर भी कभी भी आ सकता है। जब जब आवश्यकता पड़ती है तब तब उसका अहंकार प्रकट हो जाता है। वह अपना बड़प्पन दूसरों पर प्रकट करने को कुचेष्टा करता है। अधिकांश साधक

छोटी छोटी बातों में भी एक दम आवेश में आ जाते हैं। ऐसी अवस्था में ध्यान को प्रगति किंचित् मात्र भी नहीं हो सकती है। साधक को मृदु व्यवहार सहित प्रेम–भावना को विकसित करना चाहिए तभी उसके कुसंस्कार समाप्त हो सकते हैं।

कुछ ऐसे साधक भी हैं कि यदि कोई उनकी बुरी आदतों को बतावे तो बहुत क्रोध में आ जाते हैं। यह बहुत बड़ा कुसंस्कार है। यदि साधक सदैव बहिर्मुखत्व की ओर ही झुकता है तो वह अपने दोषों को समझ नहीं सकता। अपने दोषों का ज्ञान उसे नहीं हो सकता क्योंकि उसे अन्तर्दृष्टि नही होती है। बीच में अभिमान रूपी पर्दा होने से उसकी मनोदृष्टि पथ-भ्रष्ट हो जाती है। यदि साधक को सचमुच प्रगति प्राप्ति करने को तीव्र उत्कण्ठा है तो उसे उन लोगों से कभी अप्रसन्न नहीं होना चाहिए जो उसके दोषों को बताते हैं। सच्चा साधक अपने दोषों को स्वीकार कर लेता है और उनको सुधारने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। तभी उसको ध्यान सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। तभी उसको ध्यानानन्द प्राप्त होता है।

अहंकार को नष्ट करना अत्यंत कठिन है। अनादि काल से प्रत्येक व्यक्ति इसका निर्माण करता आ रहा है। वह अपने राजसिक मानस को उसकी इच्छानुसार चलने की स्वतंत्रता देता चला आ रहा है। इसलिये अहंकारमय जीवन ही शक्तिशाली हो गया है। उसको अपनी इच्छानुसार मोड़ना नितांत दुष्कर है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों पर अधिकार चाहता है। दूसरे लोग जो कहते हैं उसको सुनना भी अस्वीकार कर देता है। चाहे सलाह बहुत अच्छी ही क्यों नहो

अपनी हठधर्मी के कारण उसको नहीं मानता। अहंकार रूपी पीलिया रोगग्रस्त आँखें समस्त संसार को पीला देखती हैं। वह अहंकारमय जीवन व्यतीत करता है, उसी से वह जीवित रहता है। वह कहता है जो मैं कहता हूँ वही ठीक है जो मैं करता हूँ वही ठीक है। साधक को चाहिए कि जो उसके दोषों को बतावे उनका स्वागत करे अपने दोषों को स्वीकार करे और इस तरह से लालायित रहे कि अच्छी अच्छी सलाह देने वाले लोग और भी मिलें। साधक को अपनी गलतियों को वकालत, अपने दोषों का समर्थन नहीं करना चाहिए। ऐसे वकालत करने वाले वितण्डावाद करते हैं। अतः साधक को वाद-विवाद में नहीं फंसना चाहिए। अगर वाद-विवाद में वह हार जाते हैं तो झगड़ा करने के लिए तैयार हो जाते हैं। जनता की प्रशंसा के लिये साधक को कभी लालायित नहीं होना चाहिए। अगर जनता सत्कार नहीं करती है तो कुपित नहीं होना चाहिए। साधकों के लिये यह प्रथम पाठ है। इसे भली भांति सीख कर इसके अनुसार आचरण करना चाहिए। अगर कोई प्रशंसा करता है तो फूलकर कुप्पा नहीं हो जाना चाहिए ऐसा हो जाना बहुत खतरनाक है। इतना ही नहीं यह साधक को पथ भ्रष्ट भी कर सकता है। जहाँ तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है साधक को सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

साधक को पहले मानसिक प्रवृत्तियों और पद्धतियों को बदलना चाहिए। दूसरों को कष्टकर कार्य नहीं करना चाहिए। दूसरों के परामर्श को भी महत्व देना चाहिए। अपमान और उपहास को आभूषणों की तरह ग्रहण करना चाहिए। दूसरे लोगों को चाहे वे कोई भी हों सही रास्ते में लाने के लिये यथा शक्ति प्रयास करना चाहिए और उनके

साथ सन्तुलन के साथ व्यवहार करना चाहिए। साधना मार्ग में इस प्रकार की अड़चनें तो आती ही रहती हैं और इनको अगर तुम महत्व दोगे तो ध्यान धारणा के अभ्यास में कोई आनन्द नहीं मिलेगा। ऐसी अड़चनों को अपने रास्ते से हटाने के लिये भगवान से सच्चे हृदय से प्रार्थना करो। वह अवश्य तुम्हारी सहायता करेगा। कई लोगों ने इन अड़चनों को दूर करने के लिये अनेक प्रकार के मंत्र व जप बताये हैं। द्वापर युग में भगवान श्री कृष्ण ने भी इसी प्रकार बताया है—

यदि मेरा चिन्तन करोगे तो मेरी कृपाकटाक्ष से तुम्हारी समस्त चिन्तायें दूर हो जायेंगी।

ध्यानाभ्यास नियमित रूप से करना चाहिए। नियम पूर्वक ध्यान करना ही अत्यन्त प्रधान, उपयोगी और आवश्यक है। नियमों का सम्यक् रूप से पालन करने से ही साधक सफलता प्राप्त कर सकता है। भवरोग की प्रथम औषधि ध्यान है और दूसरी औषधि तृप्ति। दोनों ही का प्रयोग करना चाहिए। जिसके मानस में तृप्ति है उसका जीवन एक निर्विराम त्योहार है। कामनाओं से मानस की चंचलता बढ़ती है। कामनायें शरीर में एक ज्वाला सरीखे हैं वे क्रमश: मानस शरीर को भस्मीभूत कर देती हैं। इन कामनाओं के लिए अमोघ दवा है तृप्ति। ध्यान मार्ग के लिये राजपथ तृप्ति का आनन्द ही है। बहुत धूप व गर्मी में यात्रा करने वाले यात्री को जो आनन्द शीतल जल में स्नान करने से मिलता है उसी प्रकार कामना रूपी अग्नि से परितप्त व्यक्ति को तृप्ति रूपी सरोवर में स्नान करने से आनन्द

मिलता है। साक्षात्कार व मोक्ष पथ में तीन द्वार हैं और प्रत्येक द्वार पर चौकीदार रहता है। ये हैं शान्ति, आनन्द और विवेचना। यदि इनमें से एक भी तुम्हारे आधीन हो जाता है तो बाकी दोनों भी अपने आप ही तुम्हारे आधीन हो जाते हैं। सर्व प्रथम आनन्द रूपी चौकीदार को अपने वश में करना चाहिए। तभी तृप्ति पैदा होती है। तृप्ति से बढ़कर कोई भी सद्‌गुण नहीं है। वह सद्‌गुणों का सम्राट है इसको बढ़ाने के लिये प्रयास करो। काम और लोभ से पीड़ित व्यक्ति विवेक और विवेचन शून्य होते हैं। काम का मुख्य सहायक है लोभ। जहाँ काम है वहां लोभ है। जहाँ लोभ है वहां काम है। इनके कारण सोचने विचारने की शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है। और बुद्धि अनुचित मार्ग में चलना प्रारम्भ कर देती है। इसलिए तृप्ति रूपी सद्‌गुण को प्रोत्साहन देना चाहिए। एक कामना की पूर्ति के पश्चात् दूसरी कामना उत्पन्न हो जाती है। दूसरी की पूर्ति के बाद तीसरी कामना उपस्थित हो जाती है। इन कामनाओं की पूर्ति में मानव अपनी समस्त शक्ति लगाकर इधर उधर भटकता फिरता है। ऐसे व्यक्ति को धारणा शक्ति कहां से प्राप्त होगी। जो धारणा नहीं कर सकता वह ध्यान कैसे कर सकता है? बिना ध्यान भगवान वशीभूत नहीं होता। ऐसे चंचल मानस से इस प्रकार कहो–हे मानस, मुझे अपवित्र कामनाओं की ओर और विषय वस्तुओं की ओर मत ले जाओ। तुम्हारी ये आदतें मुझे बहुत बिगाड़ रही हैं। भगवान को प्राप्त करने की यात्रा में मेरी सहायता करो। जब तुमको बड़ा पद पाने की लालसा है तो सारी कामनाओं को त्यागकर तृप्ति के साथ भगवान का नाम-स्मरण और स्वरूप-ध्यान करते करते शान्ति, आनन्द और तृप्ति प्राप्त

करो। तृप्ति किसी को भी आलसी नही बनाती है। वह परम सात्विक गुण है। वह सदैव मानस को परमात्मा की ओर झुकाती है। अनावश्यक स्वार्थ सिद्धि के लिये कभी प्रोत्साहन नहीं देती है। मानुषी शक्ति को सात्विक सरिता की ओर सदैव खींचती है। जिसके अन्दर तृप्ति है वही सच्चा मनुष्य है। हृदयान्तर स्थित आत्मा से उसका सम्मिलन होता है। चाहे कितना भी दीर्घ काल तक ध्यान करना पड़े उसको थकान नहीं आती है। उसकी प्यास नहीं बुझती है और वह सदैव ध्यान में विलीन रहना चाहता है। नाना प्रकार से भागने वाले मानस और उसकी प्रवृत्तियों को केन्द्रित करने वाली शक्ति केवल ध्यान ही है उसके अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है।

एकाग्रता का अभ्यास इच्छाशक्ति को शक्तिशाली बनाने में अत्यन्त उपयोगी है। मानस की प्रवृत्तियों की ओर तुम्हें सदैव अपना ध्यान रखना चाहिए। वह कहाँ कहाँ भाग रहा है, क्या क्या मांग रहा है, इन समस्त बातों का ध्यान रखना चाहिए। चंचल मन को वश में रखने के लिये ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

अपने चारों ओर के वातावरण के बारे में तुम्हें कभी भी उद्विग्न नहीं होना चाहिए। जहाँ जहाँ तुम जाते हो वहाँ वहाँ तुमको कठिनाइयां और कुछ कष्ट हो सकते हैं। हर काय में हर स्थान में तुम्हारे मानस को भ्रमजाल में डालने के लिए ऐसी अड़चनें आती हैं मगर सही रास्ते पर चलकर इन कठिनाइयों को दूर कर सकते हो। अगर तुम्हारे चारों ओर का वातावरण अच्छा नहीं है तो वहाँ से हट जाने के

लिये प्रयत्न करो। वहीं रहकर परमात्मा से प्रार्थना करो और ध्यान करो—हे भगवन् ऐसे दृश्यों से और ऐसी भावनाओं से मुझे छुटकारा प्रदान करो। अपनी सूरत और अपने प्रति प्रेम की भावनाओं को प्रदान करो। तुम कभी भी भगवान से किसी कामना के बारे में प्रार्थना मत करो। धनी और ऐश्वर्यवान व्यक्ति ध्यान करने में सफल नहीं होता है। तुम्हें एक चीज और भी सीखनो है। यदि वास्तव में तुमको सुख नहीं है तब भी परिस्थिति के अनुसार रहना सीखो। अपना संतुलन कभी मत बिगाड़ो। जिस परमात्मा के स्वरूप का तुम ध्यान करते हो उसको मनो-मन्दिर में और हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित करके सदाचार पूर्वक जीवन व्यतीत करने से कोई भी परिस्थिति तुम्हें उत्तेजित या उद्वेलित नहीं कर सकती। कभी भी तुम भ्रमजाल में नहीं पड़ सकते हो। कोई भी तुमको डुबो नहीं सकता है। अपने मन: प्रपंच की सीमाओं का ध्यान अवश्य रखो।

अहंकार से मानस की विषमता बढ़ती है। तुरन्त ही इसे ठीक करने का प्रयास करो। उसे उठा मत रखो। स्थगित मत करो। एकान्त में बैठ कर निर्मल भावनाओं से कुछ देर तक ध्यान करो। यदि ऐसा नहीं करते हो और अपने मानसं की विषमता ठीक नहीं करते हो, या उसको ठीक करने का कार्य स्थगित कर देते हो तो तुम कदापि सफल नहीं हो सकते। बीच में कुछ विघ्न अवश्य पड़ जावेंगे। 'आलस्यात् अमृत विषम्'। इस कहावत को सदैव याद रखो। मानस चंचलता को दूर करने के लिये तथा निर्मलता और प्रसन्नता के साथ रहने के लिये ध्यान ही एक सहारा है। इस जगत् में अनेक शिक्षित व्यक्ति भी लक्ष्यहीन अनियमित जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन सागर में पतवार

विहीन, दिग्सूचक यंत्र (कुतुबनुमा) विहीन जलपोत के तुल्य है और इधर उधर भटकता फिरता है क्या करना चाहिए; और ध्यान करना चाहिए यह उनके समझ में नहीं आता है। अपने मानस को पूर्णतः नियन्त्रण में रखने में असमर्थ होने के कारण परस्पर विरोधी वार्तायें करते हैं। मनसा, वाचा कर्मणा एक ही विषय का ध्यान नहीं करते। इसका मुख्य कारण यह है कि ये लोग उद्देश्यहीन अनियमित जीवन व्यतीत करते हैं। इसको ठीक करने के लिये ध्यान की नितान्त आवश्यकता है। मानसिक स्थितियां भावना से ही उत्पन्न होती हैं। अतः भावनाओं को ठीक करना चाहिए। मानसिक स्थितियां तीन प्रकार की होती हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक। ध्यान का प्रथम उद्देश्य है सात्विकता को प्रोत्साहन देना तथा राजसिकता और तामसिकता को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देना।

ध्यान रूपी अस्त्र के मुकाबले में इस संसार में ही नहीं बल्कि समस्त सृष्टियों में साधना रूपी अस्त्र नहीं है। यह ध्यान—साधना अज्ञानता को दूर करके जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण करता है।

★ ओ३म् शान्ति शान्ति शान्तिः ★

2/-